लक्ष्मी निवास बिड़ला

फूल और कांटे



कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

६।५।८२

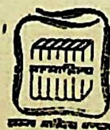


फूल और काँटे

जीवन के विभिन्न पक्षों पर
मुक्त मन से लिखी कहानियां

लक्ष्मीनिवास बिड़ला

१९७७



सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

● प्रकाशक : यशपाल जैन, मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल, कनाट सर्कस
नई दिल्ली ● पहली बार : १९७७ ● मूल्य : दस रुपये
मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक से हिन्दी के पाठक भली-भांति परिचित हैं। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं पर अपनी लेखनी चलाई है। उनकी कई पुस्तकें हिंदी जगत को उपलब्ध हुई हैं। 'पद्मिनी का शाप', 'प्रेम की देवी' और 'आंचल और आग' उपन्यासों में, जो मंडल से प्रकाशित हुए हैं, उन्होंने कथा-वस्तु इतिहास से ली है और ऐतिहासिक तथ्यों को सुरक्षित रखते हुए, अपनी भावनाओं के रंग भर कर, इन कृतियों में पाठकों को अनेक रसों की अनुभूति कराई है। इसी प्रकार 'जीवन की चुनौती', 'कहिए समय विचारि' आदि निवन्ध-संग्रहों में लेखक ने जीवन और समाज की कतिपय समस्याओं को उभारा है और पाठकों के चिन्तन को प्रेरित करने के लिए अपने विचार दिये हैं।

लेखक का यह कहानी-संग्रह नये ढंग की रचना है। इन कहानियों के कथानक नये नहीं हैं, लेकिन उन्हें जिस प्रकार से कहानियों के ताने-वाने में बुना है, उसकी अपनी विशिष्टता है। ये कहानियां समस्या-मूलक नहीं हैं और न किसी विशेप उद्देश्य को लेकर लिखी गई हैं। वाह्य जगत की घटनाएं समय-समय पर लेखक के सामने आती रहती हैं, उसमें से कुछ को उन्होंने अपनी पैनी निगाह से देखकर उनके मर्म की झांकी पाठकों को कराई है। हम कह सकते हैं कि ये घटनाओं के मात्र विवरणात्मक वर्णन नहीं हैं, वल्कि उनके पीछे अन्तर का दिग्-दर्शन है। कहानियों की विशेपता यह है कि लेखक ने कहीं भी अपनी मान्यता को पाठकों पर आरोपित नहीं किया है।

कहानियाँ रोचक हैं, उतनी ही मार्मिक भी हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि पाठक इन्हें रुचिपूर्वक पढ़ेंगे और पढ़कर सोचने के लिए प्रेरणा पायेंगे।

—मन्त्री

भूमिका

यों तो कहानी का इतिहास मनुष्य के इतिहास का समवर्ती है, परन्तु साहित्य की एक विशिष्ट विधा के रूप में 'कहानी' आधुनिक युग की सृष्टि है। कहानी सुनने में तो मनुष्य को अनुराग जन्मजात है ही, किन्तु कहानी कहने में भी उसे कम रुचि नहीं है। अतः जाने-अनजाने, मनुष्य आत्माभिव्यक्ति के लिए लिखित या अलिखित कहानी की रचना करता रहता है। यही प्रवृत्ति कहानी-कला की मूल प्रेरणा है।

हिन्दी कहानी का इतिहास लगभग ७०-७५ वर्षों में सिमटा हुआ है। प्रेमचन्द की कहानी को यदि मध्यविंदु मानें तो हिन्दी कहानी के विकास को तीन कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है : प्रेमचन्द-पूर्ववर्ती युग, प्रेमचन्द युग और प्रेमचन्द-परवर्ती युग। प्रेमचन्द-पूर्ववर्ती कहानी जीवन की वाह्य रूपरेखा का प्रत्यंकन करती थी, प्रेमचन्द की कहानी ने जीवन को समग्रता में ग्रहण किया — उसके अन्तर्वाह्य को अविभक्त रूप में देखा और आँका, आज की कहानी जीवन का अन्तश्चित्र (एक्सरे) खींचती है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह की कहानियाँ दूसरे वर्ग में आती हैं। लेखक का आधुनिकता से गहरा सम्पर्क है, वह आधुनिक जीवन की नवीनतम प्रवृत्तियों को निकट से जानता और भोगता है, परन्तु उसकी दृष्टि एकांगी तथा चेतना विभक्त नहीं है। अतः वह आधुनिक को व्यापक जीवन-परम्परा के सन्दर्भ से विच्छिन्न कर नहीं देखता—नहीं देखना चाहता, आधुनिक युग के अनुभवों को वह समग्र जीवन के अंग-रूप में ही देखता-परखता है। इसलिए जीवन का भराव है इन कहानियों में।

इन कहानियों का आधार-फलक काफी विस्तृत है। 'यूटोपिया के खण्डहर' में यदि मध्ययुगीन राजपूती आन की करुण झाँकी है, तो 'अनतीत की वात' में विज्ञान की नवीनतम प्रगति का प्रभाव है, 'नये कारबारी' और 'कुश्ती के पेंच' में आज के व्यावसायिक और सार्वजनिक जीवन के दांव-पेचों का सजीव चित्रण है, 'फूल और काँटा', 'नेफा चौकी', 'क्या जानें पीड़ पराई' तथा 'घर के भेदिये' चीनी आक्रमण के परिवेश में लिखी गयी हैं और 'लाटरी का भाग्य' मध्यवर्ग के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध है। 'मिट्टी का कण' और 'सच्ची सफलता' में मानव-मन के कोमल पक्ष को छूने का सफल प्रयास है और उधर 'भूत से मुकावला'

तथा 'दैवी चेतावनी' में मानव-विश्वास के भावात्मक तथा अभावात्मक रूपों की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार कथावस्तु की दृष्टि से इन कहानियों में रोचक वैविध्य है। लेखक की दृष्टि-परिधि किसी मताग्रह से सीमित नहीं है, वह किसी निश्चित विचारधारा का पूर्वाग्रह लेकर जीवन के निरीक्षण और चित्रण में प्रवृत्त नहीं होता। उसकी दृष्टि और दिमाग खुले हुए हैं, वह मुक्त भाव से जीवन के विभिन्न पक्षों एवं रूपों को देखता है और अपनी प्रबुद्ध चेतना का अंग बनाकर उन्हें बिना आयास के—अपने इन सीधे अनुभवों को किसी पूर्वनिर्मित साँचे में ढाले बिना—कहानी का रूप दे देता है।

परिणामतः ये कहानियां किसी विशिष्ट शिल्पविधा के सांचे में ढली हुई नहीं हैं। ऐसा लगता है, जैसे लेखक के सामने कथ्य मुख्य है और कथन की भंगिमा गौण। उसका मुख्य उद्देश्य रहा है अपने जीवन के विविध अनुभवों को अभिव्यक्ति प्रदान करना—साहित्य-सर्जना या कहानी-रचना को उद्देश्य बनाकर वह इस कार्य में प्रवृत्त नहीं हुआ। इसलिए ये कहानियां साहित्यिक रीति अथवा रूढ़ि से मुक्त हैं। पाठक लेखक के आमने-सामने खड़ा होकर उसके अनुभवों में भाग लेता है—उसे साहित्य की रूढ़ियों में होकर नहीं गुजरना पड़ता। इसीलिए उसे इनमें अनुभव का सद्यः रस अधिक और शिल्प का विलास कम मिलता है। मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि इन कृतियों में कला के गुण नहीं हैं—'अनतीत की बात' और 'मिट्टी का कण' जैसी रचनाएँ इस प्रकार की भ्रान्ति का सहज ही निराकरण कर सकती हैं। मैं इस बात पर बल देना चाहता हूं कि कहानी-रचना की अपेक्षा आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा के कारण यह स्वाभाविक है कि प्रस्तुत संग्रह की कहानियां सामान्य अर्थ में सोद्देश्य नहीं हैं—किसी नैतिक अथवा राजनैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इनमें से एक भी कहानी में नहीं हुआ है। दो-एक कहानियों में एक विशेष राजनैतिक दल की गतिविधि के प्रति जो आक्रोश व्यक्त किया गया है, वह भी सिद्धान्त या विचार के धरातल पर न होकर व्यवहार और भावना के धरातल पर ही रहा है। फिर भी मूल्यों की स्वीकृति इनमें बराबर मिलती है। ये सभी कहानियां अपने-अपने ढंग से जीवन के प्रति आस्था, अपने प्रति निष्ठा, मानव-संवेदना, अर्थ पर राग की विजय, राष्ट्र और व्यक्ति के स्वाभिमान, ईश्वर में विश्वास—आदि स्थायी मूल्यों को निर्भ्रान्त स्वीकृति प्रदान करती हैं।

इन शब्दों के साथ, मैं श्री लक्ष्मीनिवास बिड़ला के इस कहानी-संग्रह के प्रकाशन का स्वागत करता हूं। मुझे आशा है कि समाज में रिक्तता और साहित्य में अ-कहानी से ऊबा हुआ पाठक जीवन के भराव और वैविध्य को स्वीकार करने वाली इन कहानियों को रस लेकर पढ़ेगा।

—नगेन्द्र

दो शब्द

डॉ० नगेन्द्र ने मेरी कहानियों पर जो प्रस्तावना लिखी और उनके विषय में जो अच्छे शब्द व्यक्त किए हैं, उनके लिए मैं आभारी हूं। ये सब कहानियां मैंने 'अच्युत' के नाम से लिखी थीं। मानव-जीवन की घटनाएं बहुत कुछ समान होती हैं, यद्यपि प्रसंगानुसार उनमें भेद होता है। संसार में हजारों कहानियां लिखी और प्रकाशित की जाती हैं और उनमें जिन घटनाओं का क्रम होता है, वह बहुत कुछ एक-सा लगता है। उजड़े भूतों के मकान में घड़ी की टनटनाहट अथवा काल-यन्त्र का पश्चिमी देशों की कहानियों में बहुत प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'कण' के विघटन का भी। भारतवर्ष की ग्राम-कथाओं में सपने में देखे भविष्य की बातों का इसी प्रकार बहुत उल्लेख मिलता है। इसलिए इन बातों का यदि मैंने अपनी कहानियों में समावेश किया तो कोई ऐसी नई बात नहीं की। ये सब बातें प्रतिदिन की घटनाओं की छाया मात्र हैं, जो अनेक कहानियों में मिलती हैं। मैंने तो केवल इस प्रकार की घटनाओं को एक नये प्रसंग में जोड़ने की कोशिश की है और उसी के सहारे एक कहानी की रचना कर दी है।

डॉ० नगेन्द्र ने मुझे जो प्रोत्साहन दिया है, उससे मेरी वर्तमान धारा को बनाये रखने में सहायता मिलेगी, परन्तु मेरे प्रयास की सफलता और असफलता तो पाठकों के ऊपर निर्भर करेगी, जिनका निर्णय मैं बहुमूल्य समझूंगा।

—लक्ष्मीनिवास बिड़ला

अनुक्रम

□ □

यूटोपिया के खण्डहर	६
सच्ची सफलता	१५
क्या जानें पीड़ पराई	२४
भूत से मुकावला	३०
लाटरी का भाग्य	३४
कुश्ती के पेच	३६
अनतीत की वात	४६
नये कारवारी	५७
नयी पढ़ाई	६१
मुलाक़ात	६५
"नेफा चौकी"	७१
रोशनी में अंधेरा	८०
घर के भेदिये	६४
दैवी चेतावनी	१०६
मिट्टी का कण	१११
दरवाजा	११५
सोने का दांत	१२२
वह पुलिन्दा	१२५
फूल और कांटा	१३०

□

युटोपिया के खण्डहर

□

"वचपन के वाद मनुष्य जव २५-३० वर्ष का होते ही कुछ करने-धरने लगता है, तो कुछ लोगों की निगाह में वह आ ही जाता है। लोग अपने फ़ैसले भी उस पर तव सुना चुकते हैं। और, उन लोगों में से कुछ ऐसे भी देखे गये हैं, जो उस मनुष्य से विलकुल अपरिचित होते हुए भी दूसरों से सुन-सुना कर या उसकी सिर्फ़ सूरत देखकर उसे 'अच्छा', 'वुरा' या 'उचक्का' ऐसी किसी-न-किसी पदवी से विभूषित कर देते हैं। फ़ैसला उन लोगों का चाहे कितना ही ग़लत हो, पर वदलने के लिए उस मनुष्य के वारे में पूरी जानकारी लेने की फुर्सत ही किसे है? किसी एक-आध को समय हो भी, तो भी वह क्यों उसके वारे में जानकारी लेने लगा?" वीरेन्द्र ने कहा।

"ऐसे फैसले किसी भारी विस्फोट से ही वदले जा सकते हैं।" वीरेन्द्र कहता गया, "भले-से-भला होकर भी ऐसा विस्फोट शायद ही कोई कर सकता है। मगर वुरा नाम देकर किसी का भी विगाड़ किया जा सकता है। ऐसे ही निर्णीत लोगों में से एक की यह कहानी है।"

वीरेन्द्र दिल्ली के एक नामी पत्र का संवाददाता था और राजस्थान की सही-सच्ची जानकारी लेने के लिए वह निकला था। नौजवान था, किन्तु वह मर्म तक पहुंचनेवाला आदमी था।

वीरेन्द्र ने फिर कहना शुरू किया, "क़द का वह ठिगना था। अपनी कलप की हुई दाढ़ी, टेढ़ा जयपुरी साफ़ा, पीठ पर ढाल, कन्धे पर वे-तरतीब लटकती तलवार और वाएं हाथ में साँग लेकर जब वह निकलता, तो रास्ते चलते लोग उसे आँख उठा कर देख लेते थे। पैंसठवाँ साल पार करके भी उसके शरीर की अकड़, चेहरे पर निर्भयता और आँखों में लालिमा बनी हुई थी।"

आज उसकी आँखें उधर से हाथ में कैमरा लिये आते वीरेन्द्र पर गड़ गईं। वीरेन्द्र आकर कान्हसिंह के सामने विना सलाम-बन्दगी किये खड़ा हो गया। उसने भी ऊपर से नीचे तक कान्हसिंह पर एक नज़र डाली और वह कुछ सोचने

लगा। कान्हसिंह साँग को सामने धरती में गाड़कर दोनों हाथों से उसे पकड़े चुपचाप आगन्तुक की ओर ताकने लगा।

"मैं हूं वीरेन्द्र, आपकी ज़रा छवि उतार लूं।" नौजवान ने नम्रता के साथ कहा।

"ज़माना तो वह था, अब छवि में क्या रखा है, नहीं तो किसी की मजाल थी कि विना 'जय गोपीनाथजी' किये निकल तो जाय!" गद्गद कण्ठ से कान्हसिंह ने कहा।

"माफ़ कीजिए ठाकुर साहब, मैं राजस्थान में नया ही हूं। यहां का शिष्टाचार या रीति-रिवाज नहीं जानता।" कहते-कहते वीरेन्द्र ने कैमरे का शटर खींच दिया।

"भाया, अब तुम तो क्या, यहां वाले भी हमें कहां पूछते हैं!" बोलते-बोलते ठाकुर साहब को ज़रा जोश आ गया। साँग धरती से निकाल कर ज़ोर से फिर गाड़ कर कहने लगे, "डावड़ा भी गया, नहीं तो इन्हें एक बार समझ लेता।"

कान्हसिंह खोया-सा सामने कुछ क्षण देखता रहा। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें दुनिया पर इस तरह खुली हुई थीं, मानो कभी न पुरने वाला चोट का घाव और वह दुखी लम्बी नाक—इन सबसे उसके चेहरे पर दुनिया के प्रति एक चिरस्थायी भर्त्सना का भाव अटल हो गया था। उसने गहरी साँस छोड़ी। देखते-देखते उसके चेहरे का भाव बदल गया और एक हँसी की-सी रेखा दौड़ गई। बदन में उसके फुर्ती आ गई। साँग निकाली और चल पड़ा। वीरेन्द्र भी साथ-साथ चलने लगा।

थोड़ा-सा आगे चलकर वह मुड़ा और एक टूटी-सी झोंपड़ी पर पहुंच गया। उसने आँगन में साँग गाड़ दी और खूंटी पर तलवार और ढाल को लटका दिया। एक दीवार पर उस जाड़े के शान्त ढलते सूर्य की चमक प्रतिबिम्बित हो रही थी। झोंपड़ी की दीवार से सटी एक खटिया पड़ी थी, जिसे खिसका कर सामने रख लिया और वीरेन्द्र को बैठने का इशारा कर, वह ख़ुद एक तरफ पैर ऊंचे करके बैठ गया।

"यह दुनिया भी बड़ी अजीब है। खुशी की चाह में टकटकी लगाये लोग भविष्य की ओर ताकते रहते हैं। कोई भी सिर घुमा कर इधर-उधर नहीं देखता कि हँसी-खुशी पास भरी रहती है।" कहते-कहते वह रुक गया। उसने वीरेन्द्र के ऊपर नज़र घुमायी और घूरने-सा लगा, जैसे उसके भीतर तक पैठने के प्रयत्न में हो।

"भाया, तुम्हारा चेहरा कुछ जाना-पहचाना-सा लगता है। डावड़ा भी तुम्हारी ही उमर का था।"

वीरेन्द्र सात-आठ दिन राजस्थान के गाँवों में घूम चुका था। यहाँ लोगों की विचारधारा तो पहले स्तर से शायद ऊँची उठ गई थी, फिर भी थी अस्थिर,

उलझी और विश्रृंखल। पहले, किसका ऊँट कितना तेज़ है, या बैलों का जोड़ कैसा चलता है, या किस पेड़ पर रात में उल्लू बैठा था, इत्यादि प्रसंगों पर गप्पें चलती थीं। अब मंत्रियों और राजनीति पर चर्चा होती थी। अख़बार भी लोग पढ़ने लगे थे। वह उन लोगों के कौतूहल-भरे प्रश्नों का उत्तर देने की भरसक कोशिश करता, पर बहुत-सी बातों का उत्तर वह स्वयं नहीं जानता था। उसने दोस्ती गांठ कर हर बात की गहराई में पहुंचने की पूरी चेष्टा की। उसने जाटों की शिकायतें सुनी थीं। मण्डल कमेटी के दफ्तरों में वही पुराने राग सुने थे। राजपूतों की ज्यादती के किस्से भी सुने थे। पर इस बूढ़े राजपूत की एक-दो बातें सुनकर उसे लगा, जैसे राजस्थान की थाह तक अब वह पहुंचने लगा है।

"क्या हुआ था आपके बेटे को ?" वीरेन्द्र ने पूछा।

"वह तो पुरानी कथा हो गई। गोली लगी थी उसे।"

"क्यों ? गोली ! क्या बात थी ?" वीरेन्द्र की आवाज़ काँपने-सी लगी।

"संग्राम—आन के लिए, जाति के लिए, धर्म के लिए। हम राजपूतों की परम्परा यही रही है।" बूढ़े की आँखों में बिजली चमक उठी। "अब कुछ अर्से से ढिलाई आ गई है, इसीलिए राजपूत मर रहे हैं।" कहते-कहते जैसे बिजली बादलों में समा जाती है, वैसे ही उसके भूरे कोयों के नीचे उसकी बात समा गई।

सारी ज़िन्दगी ही संग्राम है।...

"जो यश के लिए मरे, उन्हें ही बे-ज़मीन कर दिया गया।" बूढ़े के स्वर से उसके मन के तिक्त उद्गारों का परिचय मिलता था। वीरेन्द्र ने केवल सिर हिला दिया।

"असल बात यह है कि जो उनके सामने झुकते नहीं, उन्हें ही अधिकारी लोग दबाते हैं।" वह कहता चला गया, "कोई सत्तरेक बीघा ज़मीन भी ज़मींदारी कहलाती है ? पर ज़मींदारी बताकर उसे भी छीन लिया गया।"

वीरेन्द्र भी ज़मींदारी उन्मूलन का नारा लगाने वालों में से था। उसने महसूस किया कि उस प्रश्न के भी कई पहलू हैं। आख़िर राजपूतों के खून में उन शूरमाओं का रक्त तो था ही, जिन्होंने बड़े-बड़े राज्यों की नींव हिला दी थी। फिर यह मानना कि पूर्वस्मृति में उनका गुर्राना केवल आख़िरी सांस की निशानी है, ग़लत होगा। कान्हसिंह वीरेन्द्र की तरफ़ उत्सुकता से ताक रहा था कि वह दाद देता है कि नहीं। वीरेन्द्र कुछ क्षण सोचता रहा, फिर उसने सिर हिलाकर कहा, "आपकी बात असंगत नहीं है।"

"तो न्याय की बात अख़बार वाले लिखते क्यों नहीं ?" बूढ़े ने पूछा।

वीरेन्द्र से जवाब देते न बना, ज़रा-सा मुस्करा कर बैठा रहा। उसे सारी बातें जानने की उत्कण्ठा थी, किन्तु उसके चेहरे पर तो उदासीनता का ही भाव झलक रहा था।

"वात काफ़ी पुरानी है। वाघा आगरा कॉलेज में पढ़ता था।" वूढ़ा कहता जा रहा था, "जव 'भारत छोड़ो आन्दोलन' ने ज़ोर पकड़ा, तो उसने भी कॉलेज छोड़ दिया और उसमें शामिल हो गया। रेल की पटरी उखाड़ते पकड़ा गया और उसे छः महीने की सजा हो गई।"

"तो आपका घर भी स्वतन्त्रता-संग्राम में शामिल था ?" वीरेन्द्र ने पूछा।

"वाघा के इतने-से काम से, पता नहीं, कुछ सहायता पहुंची या नहीं, पर कम-से-कम साथ तो वह ज़रूर था। जेल से निकलने पर कॉलेज में फिर जाना दूभर था, सो यहीं खेती कराने लगा।" कान्हसिंह की आवाज़ वोलते-वोलते तेज हो चली थी, साथ ही उसमें कुछ उत्तेजना भी मालूम पड़ती थी।

"यह कोई वीस साल की वात होगी। राजा लोगों का राज्य था तव। पास के गांव में एक दिन डाका पड़ा और डाकू जाते-जाते हरलाल की घरवाली को भी उड़ा ले गये। हरलाल हमारे खेत पर काम करता था। वाघा जब खेत पर से लौटा, तो उसकी आंखें चढ़ी हुई थीं। वह जोश में था।"

वूढ़े ने खांसकर फिर कहना आरम्भ किया, " 'वेईमानों को न पकड़ा, तो मैं भी वाघा नहीं।' वाघा ने आते ही कहा।"

"पर डाकू थे कौन ?" मैंने पूछा।

" 'कहते तो हैं कि तोरावाटी की तरफ भागे हैं, लेकिन मुझे लगता है कि यह सूरजभान था, वागड़ की तरफ़ गया होगा। तोरावाटी के राजपूत औरत नहीं उड़ाते', वाघा वोला।"

"उसी रात वाघा अपने दो साथियों के साथ ऊंटों पर चल पड़ा। वह साथियों से थोड़ा आगे चलने लगा। रास्ते में जहां कोई गांव मिलता, वहां वह सावधानी से टूंके में उधर से आने वालों के वारे में पूछता जाता। वागड़ में महणसर गांव के पास पहुंचते-पहुंचते उसने डाकुओं को जा पकड़ा। जाड़े के दिन थे। ऊंट गुर्राने की आवाज़ सुनी, तो वाघा और उसके साथी अपने ऊंटों से उतर पड़े और खुड्डियों के पीछे छिपते-छिपते आगे वढ़ने लगे। हरलाल की घरवाली एक खुड्डी के सामने वैठी थी। सूरजभान शायद भीतर खुड्डी में था। उसके तीन साथी खाटों पर बैठे चिलम पी रहे थे।"

वीरेन्द्र में भी अव जोश भर रहा था और वह वड़े ध्यान से सारी कहानी सुन रहा था। उसकी आंखें कान्हसिंह के चेहरे पर गड़ी हुई थीं, जैसे होने वाली घटनाओं का प्रतिविम्व कान्हसिंह के चेहरे पर उभर रहा हो।

"तीनों साथी एक वाड़ के पीछे वैठे सरसरी नज़र से देख रहे थे कि पीछे की खुड्डी से कोई वाहर निकला। आवाज़ सुनते ही तीनों ने वन्दूकें दाग दीं। दो डाकू धराशायी हो गये, तीसरा भागा। वह थोड़ा ही चला होगा कि वाघा ने दूसरी गोली छोड़ी। गोली तीसरे की जांघ में लगी और वह गिर पड़ा। गोली

की आवाज़ सुनकर सामने खुड्डी से किसी ने सिर निकाला और फिर वहीं छिप गया। वाघा के साथी भूरसिंह ने पीछे से आने वाले को उछल कर पकड़ लिया। वह थर-थर कांपने लगा।

"वाघा और दूसरा साथी भवानीसिंह सावधानी से आगे बढ़े। डाकुओं की चारों बन्दूकें वहीं खाट पर पड़ी थीं। दो डाकू खाट के पास नीचे पड़े थे। तीसरा पास ही पड़ा कराह रहा था। खून से मिट्टी गीली हो गई थी।

"वाघा ने खुड्डी का दरवाज़ा खटखटाया। फिर चिल्लाया—'सूरजभान, अब तुम नहीं बच सकते।'

"दो बार चिल्लाने पर भी जब किसी ने जवाब न दिया, तो पैर से धक्का देकर दरवाजा खोला। पर खुड्डी खाली थी। सूरजभान बचकर निकल भागा था। औरत को साथ ले तीनों अपने ऊंटों की तरफ़ बढ़े। गांव वाले भी अब इकट्ठा हो गये थे, मगर दूर से ही ताक रहे थे। डाकुओं के ऊंट वहीं खड़े थे। जब इन ऊंटों के पास पहुंचे तो हरलाल की घरवाली खड़ी हो गई। वाघा देखने के लिए ज़रा रुका था कि भवानीसिंह 'वाघा-वाघा' चिल्ला उठा। इतने में गोली आकर लगी और वाघा गिर पड़ा। सूरजभान सामने की खुड्डी के पीछे छिपा था। शायद वह औरत अपनी मर्ज़ी से ही भाग आई थी। भूरसिंह और भवानीसिंह ने झोंपड़ी की तरफ़ दनादन तीन गोलियां छोड़ीं, पर सूरजभान वहां से हट चुका था। दोनों वाघा की लाश लिये शाम को वापस आ पहुंचे।"

बूढ़े ने एक लम्बी सांस छोड़ी, "सूरजभान मिल जाता तो मैं उसकी बोटी-बोटी काट डालता। और वह धोखेबाज़ हरलाल!" बूढ़े ने दांत कटकटाते हुए कहा, "मदद देना तो दूर, मेरी ज़मीन लिये बैठा है।"

"घृणा वह विषैला पौधा है, जो बड़ी तेज़ी से फैलता है और साफ दिलों में उसकी जड़ जल्दी जमती है। हरलाल को भूल जाइए।" वीरेन्द्र बोला।

"मनुष्य का मन तो बड़ा कायर होता है। सुख में तो ठीक, पर दुःख में यदि ईश्वर का सहारा न लिया तो राक्षसीपन धारण कर लेता है।" कान्हसिंह बोला।

"ठकुरानी सहमी-सी खड़ी रह गई। देखते-देखते उसके त्योरान फट गये, सांस ज़ोर से चलने लगी और होंठ हिलने लगे, मानो लाश को देख बचपन से आजतक की वाघसिंह की तस्वीर उसकी याद में से एक-एक कर निकल रही हो। वह प्रयत्न करके ज़ोर से चिल्लाई "मेरे बच्चे", पर मुंह के बाहर ज़रा खरखराई-सी आवाज़ ही निकली। उसकी आंखों में काले बादलों की तरह आंसू इकट्ठे होने लगे और उसके पिचके गालों के ऊपर से ज़ोर की धार बह निकली।

"मरे हुए लड़के और क्षुब्ध ठकुरानी को देखकर मैं भी गोते खाने लगा। भवानीसिंह ने मुझे किसी तरह संभाला।"

"जैसे-तैसे ठकुरानी को ढाढस बँधाया। अब घर में तो और कोई था नहीं। दिन बीतने लगे, दिनों से हफ्ते और महीने भी बीते। ज़मीन के सहारे यों दोनों आनन्द में थे। पर एक दिन यकायक ठकुरानी चल बसीं।" बूढ़े की आवाज़ में कातरता आ गई थी।

फिर बोलते-बोलते कान्हसिंह चुप हो गया। अपनी हथेली से झुर्रियां पड़े हुए सिर को सहारा लगा वह अनन्त की ओर देखता हुआ गहरे विचारों में डूब गया। इसके बाद उसने एकदम चेहरा घुमाया फिर कहने लगा, "पर अब कितने दिन का हूं मैं ?"

"ऊंट यह खूब तेज़ दीखता है आपका।" सामने बंधे ऊंट की तरफ़ इशारा करते हुए वीरेन्द्र ने बात बदली।

"अब यही तो एक सहारा रह गया है। स्वराज आया, सोचा, बाघा होता तो कितना खुश होता। आख़िर अंग्रेज़ी राज्य की नींव में एक साबल तो उसने भी मारी थी। पर स्वराज आते ही ज़मीन छिन गई।" वह आवेश में उत्तेजित हो तीव्र गति से बोलने लगा और ढलते हुए सूर्य की लाल किरणें उसके चेहरे पर पड़कर यों दमकने लगीं, मानो अंगारे चमक रहे हों। "गुज़ारे के लिए भी तो छोड़ दी होती, किन्तु ज़मींदारी के नाम पर वह भी छीन ली।"

वीरेन्द्र इधर-उधर ताकने लगा।

"एक बार तो लगा कि जब घर की नींव ही बालू में धँस गई, तो इसे खड़ा रखकर क्या होगा ? पर इस ऊंट ने हिम्मत दिलाई। अब सप्ताह में तीन दिन इस ऊंट पर पत्थर ढोता हूं।"

वीरेन्द्र, इस कम पढ़े बूढ़े का तत्त्वज्ञान देख दंग रह गया। □

सच्ची सफलता

□

हरिप्रसाद यों पार्टियों में कम ही जाता था। हां, क्लब का शौक उसे ज़रूर था। कभी फ़ुर्सत मिली तो चला जाता था। दूसरे, क्लब जैसी जगह को वह व्यापार-संस्था के अन्तर्गत ही मानता था। "वहां जो इतनी गप-शप सुनने को मिलती हैं, उसमें कहीं कुछ-न-कुछ सच्चाई मिल ही जाती है।" वह कहा करता था।

कुर्सी पर वह बैठा ही था कि सामने से सीता आ पहुंची और अपना हाथ हिला बगल में बैठ गई।

"आज तो कई दिन बाद मिले हो। यहां से मुझे खाना खिलाकर ही जाना होगा।" उसने बैठते ही कहा।

"माफ़ करना। आजकल तो इतना अधिक व्यस्त रहता हूं कि...हां, जहां तुम कहो, वहां पहुंचाता जाऊं।" हरिप्रसाद ने जवाब दिया।

"यह क्या रोज़-रोज़ का बहाना! पिताजी समझेंगे कि मुझसे तुम्हारी बनती ही नहीं।"

"चाचाजी अभी-अभी तो गए हैं।"

"मैं तो तुम्हें आज पियानो भी सुनाने जा रही थी।"

सीता जगदलपुर के नामी उद्योगपति भवानजी विट्ठलदास की इकलौती पुत्री है। नखशिख से सुन्दर और कला की तो मानो पुजारिन ही है। ऐसा कोई कला-सम्बन्धी जलसा या प्रदर्शनी न होती, जहां सीता मौजूद न हो। उसके चेहरे पर यौवन के साथ-साथ संस्कृति का तेज भी झलकता था।

"बहुत दिनों से तुम्हारा पियानो सुनने की बड़ी इच्छा थी।" बात को बदलते हुए उसने पूछा, "चाय मंगाऊं या कॉफी?"

"पियानो और चाय-कॉफ़ी का यह क्या जोड़ मिलाया है तुमने!"

"नहीं, यह मेज उठने वाली है। खाने की मेज अब यहां लगेगी।"

"तुम जो चाहते हो, वह करवा ही डालते हो।"

"चलो, अब तुम्हें ले चलूं।" हरिप्रसाद ने उठते हुए कहा।

"तुम्हारी इच्छा पूरी होनी चाहिए।"

"मतलब ?"

"मतलव यह कि लोग तुम जो भी चाहो, वह करें, पर वदले में तुम कुछ भी नहीं करना चाहते।"

"ये क्या वहकी-वहकी वातें करती हो ?"

"सच्ची वात चोट तो कर ही जाती है और यह सच है कि सिवा अपने आपके तुम किसी को प्यार नहीं करते।"

"मालूम पड़ता है, तुम्हारा मिजाज आज कुछ विगड़ा हुआ है। चलो, मुझे एक ज़रूरी काम है।"

सीता दूसरी तरफ़ मुड़कर चली गई। हरिप्रसाद कुछ क्षण देखता रहा, फिर वाहर निकल गया।

कोई आठ-दस महीने हुए होंगे कि जगदलपुर स्टेशन पर कोट-पैण्टधारी एक युवक उतरा। सेठ रामप्रसाद सामने खड़े थे। युवक ने आगे वढ़कर उनके पैर छुये। जगदलपुर एक वड़ा स्टेशन है, वहां कौन उतरता है, कौन चढ़ता है, इसपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

सेठ रामप्रसाद पुराने तौर-तरीके के व्यापारी थे। सिर पर पगड़ी छोड़कर उन्होंने टोपी तो अपना ली थी, पर अव भी अचकन-नुमा लम्वा कोट पहने थे। ओठों पर भूरे वालों की मूंछें ऐंठी हुईं और हाथ में छड़ी थी। उन्होंने युवक को छाती से लगा लिया। दो दिन वाद लोगों को पता लगा कि सेठ रामप्रसाद का भानजा यूरोप से पढ़कर व्यापार में दक्ष होकर लौटा है। रामप्रसाद शहर के वड़े-वड़े साहूकारों और उद्योगपतियों से हरिप्रसाद को मिलाने ले गए।

"हरिप्रसाद अभी यूरोप से 'इण्डस्ट्रियल मैनेजमेन्ट' का प्रशिक्षण लेकर आया है।" उनकी आवाज़ में गर्व था और हरिप्रसाद के चेहरे पर तेज ; किन्तु लोगों ने देखा कि हरिप्रसाद उनसे मिलने के लिए कोई विशेष लालायित नहीं था।

हरिप्रसाद के पिता की दिल्ली में जायदाद थी और वे वड़े रईस थे। उसकी मां उसे ४ वर्ष का छोड़कर चल वसी थी। वह तव से अपने पिता की देखभाल में रहा था ; किन्तु ११ वर्ष की उम्र में पिता का भी देहान्त हो गया। मरते वक्त उसके मामा रामप्रसाद सौभाग्य से वहां आये हुए थे। लाला रघुवीरसिंह की, समय को देखते, वड़ी तीव्र इच्छा थी कि हरिप्रसाद को यूरोप में शिक्षा दिलाई जाय। हरिप्रसाद जव कॉलेज से निकला तो सेठ रामप्रसाद ने उसे यूरोप भेज दिया। वहां तीन साल रहकर २४ साल की अवस्था में वह जव वापस लौटा, तव उसने वरावर जगदलपुर में ही रहने का निश्चय कर लिया। हरिप्रसाद के इस निर्णय से मामा वहुत खुश हुए।

हरिप्रसाद से मिलकर भी व्यापारियों ने उसे पूर्णरूप से अपनाया नहीं, मानो

उसका विदेश से नए तौर-तरीके सीखकर आना, उसे ही विदेशी बना रहा हो। कुछ लोग तो केवल उदासीन थे, पर कुछ सक्रिय विरोधी भी थे।

जगदलपुर में बसते ही हरिप्रसाद कसकर परिश्रम में जुट गया। वह काफ़ी होशियार और समझदार था। वह इंजीनियर तो नहीं था, पर बुनियादी बातें जानता था। आर्थिक प्रश्नों को वह खूब समझता था। वकील न होकर भी वह कन्ट्राक्ट के कानून से अनभिज्ञ नहीं था। जिनका भी उससे काम पड़ता, वे उसकी कुशलता का सिक्का मान लेते।

सेठ जयकृष्णदास ने तांबे की खान के लिए एक कम्पनी स्थापित की थी। कम्पनी कुछ दिन ज़ोरों से चली। शेयरों के भाव काफ़ी चढ़ गए। फिर यकायक बाज़ार गिरने लगा। तरह-तरह की बातें सुनाई पड़ने लगीं। किसी ने कहा कि तांबा ज़मीन में ही नहीं है। सेठ जयकृष्णदास का पुराना मैनेजर उनसे अलग होकर ज़ोरों से इस बात का प्रचार करने लगा। हरिप्रसाद ने भी क्लब में यह बात सुनी। मैनेजर ने लोगों को खान के इंजीनियर की यह रिपोर्ट दिखाई, जिसमें लिखा था कि बीसों जगह 'बोर' करने पर भी तांबा नहीं मिला और अब मिलने की भी उम्मीद नहीं थी।

जयकृष्णदास हरिप्रसाद को बहुत मानते थे। सेठ रामप्रसाद से भी उनकी पुरानी मित्रता थी।

"कोई बड़े पैमाने पर शेयर मत्थे रख रहा है, मुझे डुबाना चाहता है।" सेठ जयकृष्णदास ने कहा।

"आपका पुराना मैनेजर ही तो है और जब दाम गिरने लगते हैं तो हिस्सेदार भी घबराकर बेचने आते हैं।" कहते हुए हरिप्रसाद ने जेब से कागज़ निकाला, "इस बारे में आप कुछ जानते हैं, यह इंजीनियर कौन है, जो कहता है कि तांबा नहीं है?" हरिप्रसाद ने पूछा।

जयकृष्णदास देखकर दंग रह गए। "यह तो शराबी, निकम्मा आदमी था, इसलिए छोड़ा गया था। कनाडा वाले इंजीनियर ने तो इस पहाड़ी में बहुत बड़ी मात्रा में तांबा बताया है।"

यह तय हो गया कि हरिप्रसाद जितने भी शेयर बाज़ार में मिलें, उन्हें खरीद लेगा।

"तुम्हें साझेदार बनाकर आज मैं बेहद खुश हूं।" जयकृष्णदास ने उठते हुए कहा।

शाम तक शेयरों का रुख बदल गया और ६) से बढ़कर वापस ९) पर भाव आ गया।

सुबह के आठ बजे थे। जगदलपुर के नामी उद्योगपति भवानजी ने आंख

मलते-मलते चाय मांगी। आज उनसे कोई मिलने आ रहा था, इसलिए जल्दी उन्हें उठना पड़ा।

सिल्क का ड्रेसिंग गाउन, नीचे पाजामा दीख रहा था। हजामत एक दिन की वढ़ी हुई। भवानजी आगन्तुक का इन्तज़ार करने लगे। सूरत से वह करीव ४०-४५ की उम्र के दीख पड़ते थे, पर वह थे पचास साल के क़रीव।

जव भवानजी की उम्र ३० के लगभग थी, तभी उनके पिता की मृत्यु हो गई, और वह उसी रात कई छोटे-मोटे कारखानों के मालिक वन गए। काम जमा हुआ था, देखभाल के लिए पुराने मैनेजर थे, इसलिए भवानजी एक तरह से निश्चिन्त थे। उनके मित्र भी वहुत-से हो गए थे। शहर की खास-खास संस्थाओं को भी उनसे कुछ प्राप्ति हो जाती थी। इसलिए जगदलपुर में भवानजी का सिक्का जमा हुआ था।

नौकर ने खवर दी, "हरिप्रसादवावू आ गए।"

अच्छी तरह इस्त्री किए हुए चुस्त कपड़े, एक सुहावनी टाई और चमकते जूते पहने; लम्वे और गठित शरीरवाला कोई २७-२८ साल का युवक नौकर के साथ पढ़ने के कमरे में आ पहुंचा। उसकी आंखों से अधीरता टपक रही थी।

"अच्छा, आओ हरि, वैठो।" भवानजी ने कुर्सी की तरफ़ इशारा किया।

"मौसम अच्छा है। आप और चाचीजी प्रसन्न..."वैठते-वैठते हरिप्रसाद पूछने लगा।

पर भवानजी का उससे सामाजिक वातें करने का मन नहीं था। वह वीच में ही वोल उठे, "चिट्ठी तुम्हारी मिली" और जरा उत्तेजना से कहने लगे, "सच तो यह है कि तुम्हारी चिट्ठी...क्या कहूं...एक..."

"आपका मतलव है कि एक धृष्टता थी।" हरिप्रसाद की आंखों से जरा-सी हँसी फूट रही थी।

"सही वात है," भवानजी ने सिर को झटक कर कहा, "तुम यह कहना चाहते हो कि मैं मिल चलाना नहीं जानता। एक छोटी-सी खान लेकर इतना घमंड हो गया है तुम्हें !"

हरिप्रसाद का चेहरा तमतमा उठा, पर उसने शान्ति से कहा, "मैं आपको क्या सिखाऊंगा ? पर आप जानते ही हैं कि लोगों की आदत वदल रही है। वे पुराने ढंग का माल पसन्द नहीं करते, इसीलिए दाम कम आ रहे हैं।"

"मालूम है तुम्हें, पिताजी के सामने मेहनत करके सिक्का कैसे जमाया गया है ? तुम कहते हो कि इन सिक्कों को वदल दो। आज तो नाम से ही सिक्के विक जाते हैं। कुछ तो व्यापारी तरीक़ा जानना चाहिए।" भवानजी ने तुनककर कहा।

"हां, हो सकता है, वेचने के लिए प्रयत्न कुछ विशेष करना पड़ेगा, पर क़ीमत

भी तो ज्यादा मिलेगी।" नम्रता से हरिप्रसाद ने कहा।

"भैया, तुम्हारा यह ज्यादा बढ़ना ठीक नहीं। अपने को समझकर बात करो। तुम नए आये हो, मैं नहीं चाहता कि तुम किसी झंझट में पड़ो।" भवानजी की आवाज़ में चेतावनी थी और वह उठकर वहां से चल दिये।

"मैंने तो अच्छी मिल समझकर शेयर लिये हैं। मैं आपसे मिल छीनना नहीं चाहता। मेरा तो केवल इतना ही निवेदन है कि मिल सुचारु रूप से चले।" कहता हरिप्रसाद भी चुपचाप उठकर बाहर चला गया। तीन दिन बाद अख़बारों में यह ख़बर थी :

"जगदलपुर-मिल के हिस्सेदारों में काफ़ी खलबली मची है। सुना जाता है कि नवागन्तुक श्री हरिप्रसाद ने हिस्सेदारों में बहुमत कर लिया है और वह मिल अपने प्रबन्ध में करना चाहते हैं। मिल को जमाने का श्रेय यहां के पुराने परिवार श्री विट्ठलदास खीमजी को है और इस परिवार के श्री भवानजी विट्ठलदास एक गण्यमान्य उद्योगपति हैं। यदि मिल ऐसे विश्वस्त हाथों से निकलकर नये प्रबन्ध में चली जायगी, तो जगदलपुर के लिए यह बड़े दुःख का विषय होगा।"

हरिप्रसाद के पास बहुत सम्पत्ति तो नहीं थी, फिर भी लोग उसे ख़ासा धनाढ्य मानने लगे। तारीफ़ यह थी कि उसके जैसा सतर्क और कोई नहीं था, पर अर्थविज्ञ अब भी उसे कुछ हीन-दृष्टि से ही देखते थे।

हरिप्रसाद आज ज़रा विचारमग्न था। मिल के हिस्सेदारों की बैठक वह ख़त्म कर चुका था। बैठक काफ़ी रात तक चली थी। क्या वह ग़लती कर रहा है? पर वह हिस्सेदारों को तो अच्छी तरह समझा सका था, और मिल लेकर तो उसे सीता को भुला देना ही होगा। वह जो इतने हिस्सेदारों की भलाई करने जा रहा है, यदि मिल का नफ़ा कम रहा तो कितने लोग बर्बाद हो जायेंगे। नहीं, इतना तो उसे करना ही पड़ेगा। हरिप्रसाद इसी उधेड़बुन में पड़े-पड़े नींद में अचेत हो गया।

'जगदलपुर मिल्स लिमिटेड' एक बड़ी मिल थी। भवानजी के पिता ने उसे बड़ी मेहनत से खड़ा किया था। उसके हिस्सेदार उन हिस्सों को सरकारी काग़जों की तरह एक पक्की चीज़ समझते थे। उस मिल में मुनाफ़ा भी अच्छा था, पर पिछले पांच-सात साल से वह गिरता जा रहा था। हिस्सेदार भी इसी उम्मीद में थे कि मिल फिर चमकेगी और काम ठीक जम जायगा।

हरिप्रसाद ने भी उसके सालाना तलपट का अच्छी तरह निरीक्षण किया। उसे समझते देर न लगी कि माल की क़ीमत कम आ रही है। उसने शेयर लेने का हुक्म अपने दलाल को दिया। ज्यों-ज्यों थोड़े-बहुत शेयर मिलते गये, वह लेता गया। भवानजी का ख़र्च बहुत ज्यादा था और आमदनी पर कर काफ़ी लगता था।

धीरे-धीरे उनके शेयर भी बाज़ार में बिक रहे थे। शेयर बेचने में उन्हें कोई अन्देशा भी न था, क्योंकि वह जानते थे कि जगदलपुर में उनके हाथ से कोई भी उनकी मिल निकाल नहीं सकता।

हरिप्रसाद ने जब शेयर अपने नाम चढ़ाने को भेजे तो उसे भय ज़रूर था कि शायद भवानजी ना कर दें, पर यह सोचकर कि वह शायद उसे अपने होने वाले जामाता के रूप में देखते हों, उसने शेयर चढ़ने के लिए भेज ही दिये।

हरिप्रसाद कभी-कभी शान्ति की चाह में बेचैन-सा हो जाता था। किसी-किसी दिन उसके मन में आता कि वह अकेला घर में शान्ति से बैठकर अपना शाम का भोजन करे, उसके बाद इच्छा हो तो या तो कुछ पढ़े या रेडियो सुने, और जब नींद आने लगे, सो जाय; किन्तु उसके लिए यह सब आज कहां सम्भव था!

मिल का काम अच्छा चलने लगा था। पहली रिपोर्ट उसने निकाली। मुनाफ़ा अच्छा था। हिस्सेदार सिर हिलाकर चुप हो गये। लोगों ने भवानजी को रिपोर्ट दिखाई। वह जरा हँस दिये। सबने कहा कि रिपोर्ट झूठी है, वह अपने शेयर बेचना चाहता है। बढ़ने के बजाय शेयरों के दाम गिर गये।

ब्रजभूषण किसी ज़माने में अच्छे काम के आदमी थे। जब रेल की लाइनें नई बैठने लगीं और माल ढोने के लिए डिब्बों की कमी होने लगी तो ब्रजभूषण ने माल के डिब्बे बनाने का एक कारखाना बैठा लिया। सरकार की नीति बदलती रहती है और न भी बदलती हो तो भी अनजान में बहुत-सी विज्ञप्तियां प्रकाशित हो जाया करती हैं। न जाने कौन और क्यों ऐसी विज्ञप्तियां निकालता है, यह कोई नहीं बता सकता। इन विज्ञप्तियों के प्रभाव से कई बार बाज़ार हिल जाते हैं।

ऐसी ही विज्ञप्ति देखकर एक दिन ब्रजभूषण के 'जगदलपुर वैगन्स' के शेयरों के भाव गिरने लगे। हरिप्रसाद भीतरी बात जानता था। उसने शेयर लेने शुरू कर दिये और बीस टका शेयर उसके हाथ में आ भी गये। एक और बड़े हिस्सेदार वृद्ध हो गये थे, उन्हें इन पचड़ों से निकलना था। भावों का गिरना उन्हें भी भयभीत करने लगा। जब हरिप्रसाद ने पूछा तो वह भी अपने पच्चीस टका शेयर उसे बेच निश्चिन्त हो गये।

रेलवे को डिब्बों की सख्त ज़रूरत थी। ब्रजभूषण भी इस बात को जानते थे। रेलवे का आर्डर मिला तो शेयरों के भाव फिर बढ़ने लगे। ब्रजभूषण के पास तीस टका शेयर थे, पर उसे कोई फ़िक्र न थी; क्योंकि गिरते बाज़ार में उसका अनुमान था कि कोई बड़ी तादाद में शेयर न लेगा। ब्रजभूषण बड़े आर्डर की खुशी में निश्चिन्त थे। यद्यपि हरिप्रसाद के पास बहुमत न था, फिर भी इतने शेयर एक साथ किसी के भी पास न थे और हिस्सेदारों की बैठक में इतने वोट दूसरा नहीं पा सकता था। ब्रजभूषण को होश तभी आया जब 'जगदलपुर वैगन्स' का साइनबोर्ड हरिप्रसाद के आफ़िस के सामने लग गया।

पर इन दिनों उसे कई मुसीबतों का सामना करना पड़ा। कभी-कभी तो वह जी-जान लगाकर भी मुश्किल से छुटकारा पा सका। बैंकों से चालू काम के लिए वह पूंजी भी वड़ी दिक्क़त के वाद पा सका। पर धीरे-धीरे उसकी साख जमने लगी। लोगों पर उसकी दक्षता और कुशलता की छाप पड़ने लगी। अव पैसेवाले उसकी कम्पनियों के हिस्से चाह से लेने लगे। पर फिर भी वह एक मित्र भी न वना सका। वरावर कमी यह रह जाती कि वह ठोस तर्कों के सामने मनुष्य का मनुष्यत्व विल्कुल भूल जाता। वह उलझनों से शान्ति न पा सका।

हरिप्रसाद अव और छोटे-वड़े दो-चार कारखानों का मालिक वन गया था।

वह कभी-कभी, जिसे लोग 'भाग्य' कहते हैं, उस पर विचार किया करता था। यह भाग्य था या आकस्मिक घटना कि उसके मां-वाप वचपन में ही गुज़र गये और वह जगदलपुर में रहने लगा। मिल, कारख़ाने, लेने का उसने प्रयत्न किया था। पर क्या प्रयत्न के लिए किसी ताक़त ने वाध्य किया था या अपने आप ऐसा हो गया? उसे कारख़ानों में सफलता भी मिली। कारख़ाने अव विना ज्यादा मेहनत के चल भी रहे थे। सरकारी नियंत्रण ने नफ़ा भी सदा के लिए कायम कर दिया, और कारख़ानों में प्रतिस्पर्द्धा एकदम वन्द कर दी, पर इतना सव करते हुए भी, और एक सफल उद्योगपति होकर भी, वह किसी को अपना कहने लायक न वना पाया। "ऐसा क्यों?" वह वार-वार सोचने लगा। उसे एक कमी महसूस हो रही थी। वार-वार एक कसक उसके दिल में दौड़ जाती थी।

हरिप्रसाद को अव काफ़ी फ़ुरसत भी थी। उसे अपने को किसी-न-किसी काम में लगाये रखने की फ़िक्र करनी पड़ती थी। उसने पार्टी या मीटिंगों के निमन्त्रण भी स्वीकार करने शुरू कर दिये। शराव से उसे यूरोप में भी परहेज़ न था, और अव पार्टियों में शरीक होने पर तो यह नियन्त्रण और भी शिथिल हो गया।

उस दिन क्लव का वार्षिक भोज था। क्लवों में योंही कुछ पीने वाले जुट जाया करते हैं। हरिप्रसाद भी काफ़ी चढ़ा गया। पीते-पीते उसे पता नहीं, कैसा लगने लगा, और वह चुपचाप जाकर वगल के कमरे में वैठ गया। कवतक वैठा रहा, इसका भी उसे होश नहीं रहा, पर जव कुछ चेत आया तो देखा कि उसके सिर पर ठण्डा तौलिया रखा हुआ है और सामने सीता खड़ी है।

"क्यों? कैसा लगता है? क्या हुआ था?" सीता ने पूछा।

"पता नहीं, कुछ मिनट पहले ऐसा लगा कि कहीं वैठ जाऊं।" उसने अपनी टाई ढीली कर दी और गले के वटन खोल दिये।

अपनी दोनों बांहें एक दूसरी पर मोड़कर सीता सामने खड़ी रही। "आज क्या वात हुई?" उसने पूछा।

"यही तो मैं भी सोच रहा था।" हरिप्रसाद बोला, "क्यों, भवानजी भाई कैसे हैं ?"

"पिताजी अच्छे हैं।" सीता ने जवाब दिया।

"कितनी मुद्दत बाद आज हम लोग कैसे मिले हैं !"

सीता एक कुर्सी खींचकर सामने बैठ गई। बिना जवाब दिये उसने सिर हिला दिया। हरिप्रसाद ज़रा सीधा होकर बैठा।

उसकी विचारधारा बड़े ज़ोरों से चल रही थी। "वह दुनिया से कितना दूर हो गया था", उसने सोचा, "क्या बिना भवानजी भाई की प्रतिष्ठा गिराये वह मिल को नहीं संभाल सकता था ? आख़िर सीता को छोड़ उनका था ही कौन ?"

उसके दिल में बड़े ज़ोरों की धड़कन होने लगी, "किस मुंह से अब वह सीता को कुछ कहे ! क्या हिस्सेदारों की भलाई का उसने अपने आपको भुलावा दे देकर केवल अपने अहं का पोषण नहीं किया ?" एक बड़ी सिहरन उसके आरपार निकल गई। उसने उठने का प्रयत्न किया।

"अभी कुछ देर और आराम से बैठो।" सीता ने टोका।

"बैठकर ही क्या होगा ! तुम तो कभी मिलती ही नहीं !" हरिप्रसाद ने बैठे-बैठे ही कहा।

"मेरी कुछ फ़िक्र तो हुई। अहसानमन्द हूं।"

"नहीं, मेरे दिमाग में तुम्हारा हालचाल जानने की इच्छा बराबर घूमती रहती है।"

"तो फिर किया क्या ?"

"मुझे ही तकलीफ़ थी।"

"अच्छा ?" सीता बोली।

"तुम्हें क्यों विश्वास होने लगा ?" हरिप्रसाद ने कहा।

"तुमने तो मुझे मरा हुआ ही समझ लिया। कभी जानने की कोशिश भी नहीं की।" सीता की आवाज़ में पीड़ा थी।

"मुझसे खूब घृणा करती हो ! सही है, पुरुष ऐसी भी ग़लती कर बैठता है कि उसे फिर किसी भी तरह सुधार न सके। मैंने भी ऐसा ही किया, पर मैं यह नहीं जानता था कि तुम भी इतनी घृणा करने लगी हो।"

"और क्या धारणा थी तुम्हारी ? चालीस के करीब मेरी उम्र हो गई। मेरे भी मन में अरमान थे...", सीता ने मुंह घुमा लिया।

वह अपने बारे में बातें करने लगा। खास सीता को सुनाने के लिए नहीं, पर अपने आप मन के विचार सिनेमा चित्रपट पर जैसे कोई प्रकट करता हो, "मैं सचमुच अन्धा हो गया था। मेरी खुशी ही जैसे सबकी खुशी हो...जैसे और कोई मेरी तरह समझने वाला ही न हो।" वह हठात् चुप रह गया और सीता

की तरफ़ टकटकी लगाकर देखने लगा। उसके चेहरे से मालूम पड़ता था, जैसे भीतर की पीड़ा मुंह पर उभर आई हो। उसने सीता से कहा, "पर मुझसे घृणा न करो।"

"नहीं, अब घृणा नहीं कर रही। आज बेहोशी में जो तुम्हारा चेहरा देखा, उसके बाद अब मैं तुमसे नाराज़ नहीं हूं। अब तुम इन्सानियत सीख गये हो।"

इसके बाद, कहते हैं, हरिप्रसाद से सीता की शादी हो गई। अब भवानजी भाई अपने जँवाई हरिप्रसाद की मुक्तकंठ से प्रशंसा किया करते हैं कि कैसे हरिप्रसाद ने मिल को संभालकर हिस्सेदारों की पूंजी की रक्षा की, और अगर उस वक्त वह न संभालता तो मिल शायद ग़ारत हो जाती। □

क्या जानें पीड़ पराई

□

मैला-सा मिट्टी लगा हुआ स्लैक और मोटा स्वेटर पहने उन्नीस वर्ष की रश्मि पहाड़ पर धीरे-धीरे चढ़ रही थी। तकलीफ़ के उन भयावने दिनों को वह भरसक भुला देने के प्रयत्न में थी; किन्तु रह-रहकर कमर-झुके हुए अपने बुड्ढे वाप की तरफ़ देखकर उसके चेहरे पर गम्भीर चिन्ता की झाईं पड़ जाती थी।

रश्मि शिलांग में एम० ए० की छात्रा थी। पूजा की छुट्टियों में आई थी अपने वाप से मिलने और अचानक यह सब हो गया। उसके वाप को ऐसा सदमा पहुंचा कि देखते-देखते कुछ ही दिनों में वह वूढ़ा हो गया। डर था कि कहीं घातक सदमा उसे ले ही न वैठे। वह सोच रही थी। नहीं, वह भरसक अपने प्रयत्न से मृत्यु को भगाती रहेगी। उसका वाप केवल वावन साल का ही तो था। उसे बुड्ढा मानना ग़लत था। आपत्तियां क्या कम आईं कि वह झुक न जाता। पर जो वीत चुका, उसकी तरफ़ नहीं देखेगी, उन पिछली वातों को वह भुला ही देगी।

अपना थोड़ा-सा सामान पीठ पर लटकाये थकान में चूर रश्मि भटकती-सी चल रही थी। ठहर कर चारों तरफ़ देखने लगती कि कहीं वह सचमुच भटक तो नहीं गई है। फिर हिम्मत कर कुछ भुलाने की कोशिश करती। वह एक अच्छी चितेरी भी थी। कभी कोई दृश्य उसे ऐसा लुभा लेता कि उसकी कलाप्रिय प्रकृति सव तरफ़ से उसका ध्यान खींचकर एक क्षण के लिए उसके दिल में हिलोरें उठा देती।

और, उसके साथ-साथ चल रहा था उसका मनहूस खच्चर। उसकी पीठ पर एक खुला वड़ा-सा घाव था, जिस पर सैकड़ों मक्खियां भिनभिना रही थीं। चलते-चलते उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। पर रश्मि कभी तो उसका कान पकड़कर, और कभी सिर सहलाती हुई प्यार से टिचकारी दे-देकर उसे ऊपर वढ़ाती चली जा रही थी। यह काफ़िला टाशीयांगशी के पांच-सात दुकानों के वाज़ार में जाकर खड़ा हो गया। आसपास के लोग कुतूहल से उनकी तरफ़ देखने लगे।

रश्मि सामने की दुकान में जाकर चाय के दो प्याले ले आई और वहीं वाहर वैठ वाप और वेटी चाय पीने लगे, किन्तु उसकी आंखों से देखने वालों का कुतूहल

छिपा न था। वह समझ गई कि इस दूर-स्थित भूटानी गांव में रहने वालों ने उसकी जैसी सूरत वनाये पहले किसी लड़की को न देखा था। ज़रूर वहां के लोग सोचते होंगे कि चमकीला मगर मिट्टी से मैला इस तरह का स्लैक पहने और इतनी वेरहमी से खच्चर को मार-मारकर घाव कर देने वाली यह वेशर्म लड़की यहां क्यों आई है ? पर वह इन वातों से परे थी, और वेफ़िक्र थी। कम-से-कम इस छोटे गांव में डाकघर था और रोज़मर्रा की मामूली चीज़ें भी दुकानों में मिल रही थीं।

उसे फ़िक्र यही थी कि डेरा डालने को कहीं जगह मिल जाय। दुकानदार ने ज़रा मुलकते-से कहा कि वहां उनके ठहरने के लिए जगह कहां मिलेगी ! फिर उस पथरीले पहाड़ पर पानी भी कितनी दूर से लाना पड़ता था, और वह खच्चर ज़िन्दा रहा, तो ढेर पानी पी जायेगा। लगभग सभी दुकानदारों से 'ना-ना' सुनते उसका मन भीतर-ही-भीतर रो उठा था। ढलते हुए सूरज की रोशनी झोंपड़ियों की पत्थर की छतों पर चमक रही थी। उसने फिर अपने वाप की तरफ़ देखा। जैसे खच्चर भी सही सलाह दे रहा हो, रश्मि ने उसे सम्वोधन करके कहा, "हां, अव पापा और नहीं चल सकते। हे भगवान, अव हम क्या करें ?"

मानो खच्चर भी समझ गया हो, उसने सहानुभूति दर्शाते ज़ोर से सिर हिला दिया। वे लोग अव पूरी चढ़ाई पार कर चुके थे। सामने एक मठ का फाटक था, जिसके अन्दर जाने के लिए सीढ़ियां थीं। रश्मि ने एक हाथ से अपने वाप का हाथ थामा और खच्चर को टिचकारी देती सीढ़ियों तक ले गई। सामान उतार एक सीढ़ी पर तकिया-सा बना वाप को वैठाकर खुद वगल में वैठ गई। उसने लम्वी सांस ली और अपनी वांह से दाहिनी आंख में टिमटिमाते आंसू को पोंछ डाला।

वह हार मानने वाली नहीं थी। कहीं-न-कहीं तो सोने को जगह मिल ही जायगी, उसने अपने आपसे कहा। क्या यह संसार-विरक्त लामा भी उनको यहां से हटा देंगे ? यकायक उसे भान हुआ कि जैसे पीछे कोई खड़ा हो। सचमुच एक लामा खड़ा सिर खुजला रहा था। रश्मि उसकी काली आंखों से आंखें मिला सामने खड़ी हो गई। वह लामा ज़रा सकपकाया, फिर इशारा करके उसे भीतर ले गया।

वड़े लामा की कृपा से वाप-वेटी को रात काटने के लिए एक झोंपड़ी मिल गई। वह इतनी ज्यादा थक गई थी कि देर तक पड़ी सोती रही। जव उठी तो दिन चढ़ आया था। उसका वाप पहले ही वाहर निकल गया था। रश्मि रात को केवल लहंगा पहन कर सोई थी। उसने कम्वल लपेट लिया और उठकर दरवाज़े से झांकने लगी। सामने उसका वाप वड़े लामा के साथ वातें कर रहा था। उसके चेहरे पर शान्ति के चिह्न थे। रश्मि ने सन्तोष की सांस ली। पर दूसरे ही क्षण वह उछल कर वाहर भाग आई। उसने देखा कि उसका खच्चर ज़मीन

पर पैर फैलाये पड़ा है। वह व्यग्र हो उठी कि कहीं वह मर न गया हो। रश्मि भूल गई कि उसने कपड़े नहीं पहने थे। कम्वल फेंककर वह खच्चर की तरफ दौड़ी। पैरों की आहट सुनकर वह उठ बैठा। साथ ही, रश्मि को अपने कपड़ों की याद आई। वह वापस झोंपड़ी में चली गई।

रश्मि तैयार हो जब झोंपड़ी से वाहर निकली तो खच्चर सिर लटकाये निश्चल खड़ा था। मक्खियां उसके घाव पर अब भी भिनभिना रही थीं। धूप चढ़ आई थी और हवा में ताजगी थी। रश्मि ने एक लम्वी सांस ली और फाटक से वाहर हो वह शहर की तरफ़ चल दी।

नौग्याल दार्जिलिंग में स्कूल में पढ़ा था। वह डाक्टर तो नहीं था, पर रामकृष्ण मिशन के स्वामी शंकरानंद के नीचे काम करते-करते मरहम-पट्टी करना, सर्दी-खांसी की दवा करना और छोटी-मोटी टूटी हड्डी को ठीक से वांध देना सीख गया था। वह इन मामूली वीमारियों की दवाएं भी अपनी झोंपड़ी में रखता था। नौग्याल एक मरीज़ की टूटी अंगुली पर पट्टी वांध चुका था कि रश्मि दौड़ती झोंपड़ी में आ धमकी।

उसने रश्मि का धूलि-धूसरित, किन्तु चमकीला स्लैक देख ज़रा ग़ौर से ऊपर से नीचे तक नजर घुमाकर पूछा, "कहिए ?"

रश्मि यह स्वल्प प्रश्न सुनकर एक क्षण ठिठक गई, फिर वोली, "घाव पर लगाने का कोई मरहम भी है आपके पास ?"

"कहां चोट आई है, देखूं ?"

"चोट है। हां, आप दे दीजिए, मैं खुद वांध लूंगी।"

नौग्याल ने मरहम की एक छोटी डिविया निकाल कर रख दी और वह उसके मुंह की तरफ देखने लगा। नौग्याल के पास दवा इतनी ही थी कि वह खुद मरहम-पट्टी कर सके। पूरी डिविया उसने किसी को दी हो, उसे याद न था।

रश्मि ने डिविया की तरफ़ देख कर कहा, "एक और।"

नौग्याल आंखें फाड़ कर ताज्जुव से देखने लगा। उसने ऊपर से नीचे तक एक वार फिर रश्मि का निरीक्षण किया कि घाव कहां है। "क्या होगा इतनी दवा का ? खैर, पैसे दो तो सारी झोंपड़ी खरीद लो।" ज़रा झल्लाया-सा वह वोला। उसके चेहरे का भाव साफ़ कह रहा था कि वह रश्मि को झक्की समझ रहा है। पर एक और डिविया निकाल कर उसने रख दी।

रश्मि ने पैसे मेज़ पर रखकर डिविया उठा ली और दौड़ी, जैसे कहीं नौग्याल एक डिविया वापस न ले ले।

रश्मि के जीवन में फिर थोड़ी-थोड़ी तान आने लगी। वह दिन भर पहाड़ों पर चक्कर काटती और उसका खच्चर भी साथ-साथ रहता। खच्चर की पीठ पर

एक फटा-सा कपड़ा पट्टी से बंधा था, पर जिधर से वह निकलता मरहम की तेज गंध चारों तरफ फैल जाती। अब उसके पैर भी मजबूत हो गये थे। बिना लड़खड़ाये कुत्ते की तरह, वह रश्मि के पीछे-पीछे चला जाता। रश्मि अच्छी सुहावनी जगह देख कर बैठ जाती और चारों ओर के सुन्दर दृश्य देखने लगती। खच्चर बगल में छांह देख चुपचाप खड़ा रहता।

रश्मि अपनी दोनों हथेलियों पर ठोड़ी रख पैर फैला कर सामने के दृश्यों में मग्न लेटी पड़ी थी। जाड़े के दिन आ रहे थे। कुछ पहाड़ों पर बर्फ़ भी जम गई थी। डूबते सूर्य की रोशनी रंग-बिरंगे जवाहरात की तरह उन पर जगमगा रही थी। लाल रंग का वह चमकीला स्लैक उसने अब भी पहन रखा था, पर अब मिट्टी के दाग उस पर नहीं थे। उसका पुलओवर शायद धोने से सिकुड़ गया था, इसलिए उसके बदन को ज़ोर से कस रखा था। उसने किसी के चलने की आहट सुनी और पड़े-पड़े सिर घुमा कर पीछे की तरफ़ देखा। ज़रा-सी उठी हुई चट्टान पर नौग्याल आकर खड़ा हो गया।

"अच्छा।" और नौग्याल ने अपना सिर हिला दिया। उसकी आंखों में उत्सुकता थी। पास में खड़े खच्चर और बंधी पट्टी को देख उसने फिर एक बार सिर हिलाया। खच्चर रेंक पड़ा, मानो वह भी इस आगन्तुक का स्वागत करना चाहता था।

रश्मि उठ बैठी, "आइए, प्रकृति का रस लूट रही हूं।"

वह धीरे-से नीचे उतरा, फिर एक बार खच्चर की तरफ देखा और बगल के पत्थर पर बैठ गया। "कबतक ठहरेंगी आप यहां ?"

रश्मि सोचने लगी, क्या उत्तर दे दिया जाय ? उसने नौग्याल के चेहरे की ओर देखा, फिर अपने खच्चर को देखा। एक क्षण के लिए उसकी आंखों से अंतर की वेदना चूने के लिए पलकों तक आई, फिर आंखें साफ़ हो गईं। उसने कहा, "हां, छुट्टी बिताने आई थी, पर अब तो शायद काम करना होगा।"

"काम करते हुए भी छुट्टी मनाई जा सकती है।"

"हां, बेबसी न हो तो।"

नौग्याल शायद पूरी बात समझा नहीं, उठ कर 'नमस्कार' करके चल दिया।

रश्मि उसी तरह वहां बैठी रही। उसके मस्तिष्क में विचार-पर-विचार उठ रहे थे। अब बेबसी थी। पर क्या काम करेगी वह ? सूरज की गर्मी कम हुई, तब उसे ज्ञात हुआ कि सांझ हो रही है। वह वहां से चल दी। बाजार में लोग उसे वैसे ही कुतूहल से देख रहे थे "उनकी नज़र वह पहचानती थी। मैं विश्वास खो बैठी," वह अपने आप कहने लगी, अपने पर मेरा पुराना आत्म-विश्वास नहीं रहा—बस चला ही गया। मालूम पड़ता है, जैसे अबतक की सुखद ज़िन्दगी मायाजाल रही हो !" किन्तु जबड़ा दबोचे वह चुपचाप बाज़ार पार कर मठ में

पहुंच गई।

रश्मि आज तीन दिन बाद फिर निकली थी। गांव के लोगों की घृणा की-सी नज़र उसे अब चोट करने लगी थी। पर वह क्या करे ? उसे कुछ भी तो नहीं सूझ रहा था। इसी विचार में डूबी बैठी थी कि किसी के पांव से छोटा-सा कंकर उछलकर उसके बगल में आ गिरा। वह चौंक पड़ी। उसी क्षण नौग्याल आकर उसकी बगल में बैठ गया।

नौग्याल का चेहरा गम्भीर था। वह चुपचाप बैठा रश्मि की तरफ़ देख रहा था। रश्मि ने कुछ पत्थर के टुकड़े उठा लिये और एक-एक कर सामने फेंकने लगी। नौग्याल कुछ देर इसी तरह बैठा रहा। फिर उसने धीरे-से पूछा, "बेबसी दूर हुई आपकी ?"

रश्मि ने सोचा, कैसा अजीब आदमी है। उसकी तकलीफ़ का मज़ाक बना रहा है। वह चुपचाप बैठी पत्थर के टुकड़े फेंकती रही।

नौग्याल बोला, "लोग कहते हैं, अजीब बेशर्म औरत है। इसे कोई काम ही नहीं है !"

उस पहाड़ी जगह में मर्द चाहें छुट्टी मना लें, पर औरतें खाली नहीं बैठती थीं। फिर घर का काम भी तो था। नौग्याल की बात रश्मि के दिल में छुरे की तरह धंस गई। बहुत कोशिश से मन को दबा रखा था कि अपनी दुःख-गाथा किसी के सामने खोल कर नहीं रखेगी, पर अब वह और चुप न रह सकी। उसके अन्दर का दुःख उबल पड़ा :

"बेशर्म ! बेशर्म वे हैं, जो दूसरे की बातों में बिना मतलब पड़ते हैं।" उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। बिना नौग्याल की तरफ़ देखे वह भर्राई आवाज़ में बोलती गई, "बेशर्म ! उन्हें दूसरे के दुःख की क्या परवा ? क्या वे जानते हैं कि मेरी मां की चीनियों ने क्या हालत की ? जानते हैं वे कि मेरा बाप इतनी जल्दी क्यों बूढ़ा हो गया ? बेशर्म ! क्या जानते हैं, कैसे-कैसे हम लोग बचकर यहां तक पहुंचे ? चीनियों ने इस बेजुबान खच्चर को भी गोली मार दी थी।"

रश्मि की आंखों में से अविरल अश्रु-धारा बह रही थी। साथ-साथ, वह सुबकती जाती थी। उसका बाप ट्वांग डिवीज़न का अफ़सर था। पूजा की छुट्टियों में रश्मि वहां आई हुई थी। यकायक चीनी वहां आ धमके। उसका बाप रश्मि को लेकर जंगल में जा छिपा। मां घर में रह गई और मां के साथ उसका एक भूटानी नौकर। वह नौकर छिपकर किसी तरह उन्हें खाना पहुंचा जाता, और घर की खबर दे जाता। गांव के बचे-खुचे लोग भयत्रस्त थे, यहां तक कि ज़बान खोलने से भी डरते थे। हर कदम पर भय था कि चीनी उसे पकड़ लेंगे। पर पूरे बीस दिन वह बहादुर इसी तरह चलाता रहा। मगर एक दिन वह नहीं आया। दूसरा दिन भी योंही गया। उनकी तरह छिपे कुछ लोगों ने उन्हें अपने

खाने में से थोड़ा-सा हिस्सा दिया। तीसरे दिन भी जब नौकर न आया तो वे लोग अधीर हो उठे। आधी रात को छिपते-छिपाते वापस लौटे।

चीनी चले गये थे। ट्वांग सूना पड़ा था। अपने घर के सामने रश्मि ने देखा, कोई पड़ा है। उसके बाप ने दियासलाई जलाई, तो वह नौकर ही था और उसकी छाती पर था गोली का घाव। रश्मि 'मां-मां' चिल्ला उठी और ज़ोर से घर के अन्दर दौड़ी। बाप भी उसके पीछे-पीछे दौड़ा। कमरे में किसी चीज़ की ठोकर खाकर रश्मि गिर पड़ी और रोने लगी। उसके बाप ने फिर दियासलाई जलाई। पर वहां का दृश्य देखकर वह बेहोश होकर गिर पड़ा। रश्मि की मां की साड़ी खून से लथपथ थी। उसके गले में रस्सी का फन्दा डालकर गला घोंटा गया था।

यह सब कहते-कहते रश्मि ने ज़ोर से चिल्ला कर अपना मुंह ढंक लिया। उसकी सांस बड़े ज़ोर से चलने लगी, और कभी-कभी वह सिहर उठती। नौग्याल सिर नीचा किये चुपचाप बैठा था। उसकी आंखों में भी आंसू छलछला आये थे। रश्मि ज़रा शान्त हुई तो उसने अपना मुंह पोंछा और उठ खड़ी हुई। नौग्याल भी उठा, "सचमुच गांव के लोग बेशर्म हैं।" उसने कहा।

नौग्याल के चेहरे पर गर्व झलक रहा था, "मुझे आपकी मां पर गर्व है। उस भूटानी नौकर पर भी गर्व है।" उसने फिर खच्चर की तरफ़ देखा और बोला, "और मुझे तुझ पर भी गर्व है।"

सरकारी फरमान आया और रश्मि अपने बाप के साथ शिलांग चली गई। किन्तु जाने से पहले कई दिन वह बाज़ार में से गुज़रती रही। उसकी काली आंखों में फिर जीवन लहलहा रहा था। उसकी चाल में अब उड़ान थी। सदा की भांति सिर ऊंचा किये उसी पोशाक में रहती थी; पर अब गांव वालों की दृष्टि में गर्व था, उसके प्रति आदर की भावना थी। गांव के लोगों ने बिना प्रस्ताव पास किये ही यह तय कर लिया कि भविष्य में अनजाने वे लोग किसी की बात में दखल न देंगे। □

भूत से मुकाबला

□

"आपको मालूम है, महल में भूत रहते हैं ?" सोमेन ने कहा।

"मालूम है ? खूब रही ! हा-हा, मुझे क्या मालूम नहीं ?" राजा साहब ने जवाब दिया।

"ऐसी जगह ठहरना मुझे तो पसन्द नहीं।"

"भूतों से मेरा कई वार मुक़ावला हो चुका है। हां, अब तो कभी-कभी उनकी मुझे हुशेर आती है। हा-हा, एक बार विहार के गवर्नर ने मुझे नेतरहाट आमन्त्रित किया। लौटते समय चाय पीकर निकलते-निकलते शाम हो गई और रांची जाना था। चारों ओर खूब शान्ति थी और उस सुन्दर पहाड़ी रास्ते से मोटर जा रही थी। घना जंगल है ही, और अंधेरा काफ़ी हो गया था। यकायक जानते हैं, मैंने क्या देखा ?"

"क्या देखा ?"

"एक जलता हुआ आग का विशाल गोला। हां, और वह हमारी गाड़ी के साथ-साथ लुढ़कता जा रहा था। मैं तो अचम्भित हो उधर ही टकटकी लगाये देखता रहा। नजर हटाये भी उस पर से न हटी।"

"डर गये थे ?"

"अन्दर-ही-अन्दर डर जरूर था, उस गोले से नहीं, किन्तु यह सोचकर कि कहीं ड्राइवर की भी दृष्टि उधर को घूम गई तो भयानक दुर्घटना हो सकती है। और उस गोले के बीचोंबीच से किसी एक बीस साल की कमसिन का चांद-सा मुखड़ा मेरी तरफ़ ताक रहा था। वह सूरत मुझे अबतक याद है।"

"क्या उससे आपकी बातें भी हुईं ?"

"हां, मुझे लगा कि वह कुछ कहने वाली ही है। उसने आंखों से इशारा भी किया। ठीक इसी घड़ी ड्राइवर मुझसे कुछ पूछ बैठा, और सारा दृश्य ग़ायब हो गया।"

"यह आपका भ्रम था, भ्रम।"

"भ्रम ! हा-हा, निरे भोले हो तुम। सुनो, मैं ९ बजे रात रांची पहुंचा।

चाय के साथ पहले ही काफ़ी खा चुका था, इसलिए थोड़ा-सा खाकर सोने चल दिया। हां, और उस सलोने मुखड़े को भुला न सका। कोशिश करते-करते कहीं ढलती रात आंख लगी। पास ही मेज़ पर पानी की झारी और गिलास रखे थे। हा-हा, और सुबह गिलास के चारों ओर कुछ चमक-सा रहा था। जानते हो क्या ? दो पन्ने-सी कांच की चूड़ियां गिलास को पहनाई हुई थीं। हां, और अपने कमरे में मैंने भीतर से ताला लगा रखा था।"

"अजी, रानी साहिवा ने रख दी होंगी।"

"हा-हा ! वे तो तव कलकत्ते में थीं।"

"क्या रात में आपने कोई आवाज़ नहीं सुनी ?"

"यह मार्के की वात है। उस वक्त तो मैंने इस वात पर ध्यान नहीं दिया, मगर सोचने पर याद आया कि उस रात मैंने पड़े-पड़े नाजुक क़दमों की आवाज सुनी थी, और हां, चूड़ियों की हल्की-सी खनखनाहट भी। हा-हा !"

"पर नजीवावाद की वात तो दूसरी है।"

"सोमेन, मेरे साथ जवतक हो, तुम्हें कोई भय नहीं।"

"अच्छा नजीवावाद चलूंगा, पर आप मुझे होटल में रहने की इजाज़त दें तो।"

"जैसी तुम्हारी मर्ज़ी ! हा-हा !"

नवाव साहव का निमन्त्रण राजा साहव ने स्वीकार कर लिया था। दूसरे दिन सोमेन के साथ सुवह मोटर में वैठकर रवाना हो गये और शाम को नजीवावाद जा पहुंचे। नवाव साहव स्वागत कर उन्हें महल ले गये।

चाय पिलाकर नवाव साहव उन्हें महल दिखाने लगे। वीच में एक वड़ा हॉल था। यह नवाव साहव के दादा के ज़माने में वड़े-वड़े मेहमानों के मनोरंजन करने का ख़ास स्थान था। ऊपर दुछत्ती थी, जिस पर नामी-गरामी वजैये वैठते और नीचे मेहमानों में शराव का दौर चलता था और किसी कमसिन हूर का नाच। कम्पनी-सरकार का, उस ज़माने का, शायद ही कोई अफ़सर वाक़ी रहा हो, जिसने नवाव साहव की ग़जव की मेहमानदारी का आनंद न लूटा हो।

किवदन्ती थी कि नवाव साहव के दादा नवाव सैयद अलीखां का एक जारज पुत्र नवाब घराने की एक लड़की से प्रेम करता था। लड़की भी उस पर फ़िदा थी। दोनों ने शादी करने का निश्चय किया। पर नवाव सैयद अलीखां को यह रिश्ता विल्कुल नापसन्द था। लिहाज़ा लड़के और लड़की ने आत्मघात करने की ठान ली।

उस दिन उस विशाल हॉल में काफ़ी हलचल थी। मेहमानों में शराव का दौर खूब ज़ोर से चल रहा था और साथ ही मनमोहक नाच भी। इन दोनों ने चुपचाप वगल के कमरे में जाकर, भीतर से कुंडी चढ़ा कर, कटार से अपना काम तमाम कर डाला। लोग महफ़िल में इतने बदहवास थे कि कौन किधर है, इसका

ख्याल ही नहीं था। दूसरे दिन काफ़ी दिन-चढ़े ख़िदमतगारों ने सफ़ाई के लिए कमरा खोलना चाहा तो बन्द मिला। खटखटाने पर भी जवाव न मिला तो ज़ोर लगा कर किवाड़ खोले और अन्दर का माजरा देखकर सन्न रह गये। दोनों प्रेमी खून के नाले में पड़े थे। कहते हैं कि वे रात को अब भी रोज़ उसी कमरे में घूमते हैं।

हॉल के एक किनारे गज़ल गाने वाली एक वड़ी घड़ी रखी थी, लेकिन चालीस साल से उसमें चाभी नहीं दी गई थी। पता नहीं, अव किस हालत में थी। हां, सजावट की चीज़ अवश्य थी।

राजा साहव घड़ी को देखकर प्रफुल्लित हो गये। "हां, खूब ! मुझे ऐसी चीज़ें वेहद पसन्द हैं, हां ! वह बोले, "मेरे दादाजी की भी एक ऐसी ही घड़ी थी और रात को चोरी-चोरी उठकर मैं उसकी गज़ल सुना करता था। हा-हा ! हां, और मैं उसके साथ कभी-कभी गाना भी गाता था।"

"आपके लिए वगल का कमरा ठीक किया गया है। आप, मैं समझता हूं, इन वाहियात वातों पर विश्वास नहीं करते।" नवाव ने पूछा।

"अजी, सा'व, ऐसा भूत आजतक पैदा ही नहीं हुआ, जो मुझे डरा सके। और यहां अगर है भी तो दो वच्चे होंगे। मेरी सवसे दोस्ती है। हा-हा !"

खाने के वाद दोनों दोस्त पुरानी वातें करते रहे। काफ़ी रात गये जव उठे तो सोमेन ने भी होटल जाने की तैयारी की। राजा साहव अपने कमरे में बत्ती बुझाकर पलंग पर जा लेटे, मगर नींद उनसे कोसों दूर थी। वार-बार वह शायद भूतों की वात सोचकर करवट वदल रहे थे। हठात् उन्होंने उठकर वत्ती जलाई और अपनी घड़ी में समय देखा।

वत्ती वुझा ज्यों-ही सोये कि फिर चमक कर उठ वैठे, मानों किसी की आहट सुनी हो। वारम्वार वह इधर-उधर ताक रहे थे, जैसे किसी के चलने की आवाज़ सुनकर उसे देखने की कोशिश में हों।

किसी के पैरों की धीमी-धीमी आहट उनके पलंग के सिरहाने आकर रुक गई। राजा साहव ने कांपते हुए-से मेज की वत्ती जलाई, पर वत्ती जलते ही फक से वुझ गई। इतने में वगल के हाल में वड़ी घड़ी ने टन-टन करके तीन वजाये, और गज़ल वजने लगी। अव राजा साहव की और सहन करने की हिम्मत नहीं थी। "ऊँ...ऊँ" मुंह से आवाज़ करते हुए दौड़ पड़े।

कमरे के दरवाज़े को पार कर वे वड़े कमरे से वाहर की तरफ़ दौड़े। अंधेरा था। यह उन्हें ख्याल भी न था कि सामने मेज़ रखी थी। धड़ाम से मेज से टकराये और चीख कर वेहोश हो वहीं गिर पड़े। शायद वेहोशी में उन्हें नींद भी आ गई और उनकी नाक वजने लगी।

सुवह नौकर आये तो राजा साहव को वहां सोते देख कर घवड़ाये। नवाव साहव को इत्तिला की गई। वह भी दौड़े आये, और दूसरे दरवाज़े से सोमेन भी आ पहुंचा। नवाव ने झकझोर कर राजा साहव को जगाया। राजा साहव भ्रमित-से चारों ओर देखने लगे, मानो कुछ याद करने की कोशिश में हों।

धीरे से राजा साहव के चेहरे पर मुस्कान आई और वह प्रफुल्लित हो उठे, "हा-हा, भूत भी मुझसे डरकर भागते हैं।"

"पर हुआ क्या ? आप यहां कैसे ?" नवाव ने पूछा।

"अजी, यह अपनी टूटी मेज देखिए। मैंने जो भूत छोकड़े को इस पर पछाड़ मारा।"

"किसकी वात करते हैं ? आपके सिर पर यह चोट कैसे लगी ?" नवाव ने चिन्तित स्वर में पूछा।

"चोट-वोट भूलिए। वह छोकड़ा कल मुझे भी तंग करने आ पहुंचा। जव मैंने पकड़ने को हाथ वढ़ाया तो दौड़ पड़ा, पर मैं कव छोड़ने वाला था, हां, पकड़ा और इस मेज पर ऐसा धर पछाड़ा कि उसे हमेशा याद रहेगा। अव फिर कभी यहां तो वह नहीं आयेगा। वस, फिर मैं यहीं सो गया।"

लोग वड़े ध्यान से राजा साहव की वातें सुन रहे थे, किन्तु सोमेन कुछ चुपचाप खोज रहा था। उसे घड़ी की वह चाभी कुछ दूर पर पड़ी दिखलाई दी। रात को जल्दी में वह उठा न सका था। अव उसे उठा कर अपनी जेव में रख औरों से जा मिला, मानो वहीं खड़ा वह भी राजा साहव की दिलचस्प वातों का मज़ा लूट रहा था। □

लाटरी का भाग्य

□

"कौन हैं यह गिरीशचन्द्रजी ?" संजय ने पूछा।

"वही तो अपने एलेक्ट्रो-केमिकल वाले गिरीशबाबू। सरस्वती ज़िन्दा थी तब मेरे पड़ोसी थे।" त्रिवेणी ने बताया।

"अच्छा, तो अब बड़े हम सफ़ेदपोशों के हामी हो गये। मुझे तो उनके ही फेर में पड़कर काम छोड़ना पड़ा। तो क्या सरस्वती अब नहीं है ?"

"हां, बेचारी गई, पर क्या हुआ था ?"

"खुद तो कुछ करते-धरते नहीं, दूसरों से अपना काम करा कर कितने दिन ठहरते ? नेतागिरी में भी अब कितने दिन ठहरेंगे ?"

"करना ही क्या पड़ता है नेतागिरी में ? वहां कौन तलपट मांगता है ? एक नारा असफल रहा तो दूसरा लगाना शुरू कर दिया, और बन गये सफल नेता।"

त्रिवेणी कहने लगे, "ऊपर के मंझले में गिरीश और सरस्वती रहते थे, मैं नीचे रहता था। उन दिनों मैं बीमार था और दिन भर लेटा रहता था। छोटा-सा मकान, ऊपर-नीचे सब पूरा सुनाई देता था।

"खूं-खूं!" खांसी फिर चली। "हे राम", सरस्वती ठसकी। "कितने आराम से थे", सरस्वती गुनगुनाई, "गिरीश ६००) रु० महीना पाता था। मालिक काम से खुश थे। बाल-बच्चा कोई नहीं, मजे में काम चलता था।" बीमार होकर अब दिन-भर वह कुछ-न-कुछ गुनगुनाती रहती थी। शायद चुप रहने के बजाय बोलते रहने से उसमें कुछ हिम्मत आती थी।

"अब कल दूध का क्या होगा ? गिरीश भी अभी तक नहीं लौटा। जब से वह इस चक्कर में पड़ा है, प्रायः बाहर ही रहने लगा। पन्द्रह दिन से दूध वाले को पैसे नहीं दिये। यह क्या कम है, बेचारे ने दूध वैसे ही दिया।

"और मकान-मालिक, उसे भी क्या जवाब देंगे ? कई दिन तक मंझले बाबू ने गिरीश की जगह भी खाली रखी। बड़े बाबू की तो पूरी कृपा ही थी। उन्होंने समझाने में कोई कसर नहीं की।" वह बड़बड़ाई।

"खूं-खूं, आज कहता था, रुपया ज़रूर आयेगा। डाक्टर को स्टेप्टो के इंजेक्शन लिखे दस दिन हो गये। तीन दिन से तो इस खांसी के मारे कुछ खाना पकाना भी कठिन हो गया, हाय राम, और पकाऊं भी तो क्या ? दूध से मैं तो आजतक चला लेती थी। गिरीश—वह क्या खायेगा ? भैया ने कहा भी था कि इतना सहल काम होता, तो आज सभी पैसे वाले वन जाते। विना मेहनत जुए-फाटके में भी कभी पैसे मिले हैं ? गिरीश ने किसी की न सुनी।"

मैंने सुना, त्रिवेणी कहने लगे, बड़े वावू के लड़के की शादी थी और वह भी घर में पहली शादी। लेकिन उनकी नकल करने को उतनी अक्ल भी तो चाहिए। और वड़े वावू तो कुली की तरह खटते रहते हैं। अपने से ज़्यादा अपने हिस्सेदारों की ख़बर रखते हैं। गिरीश जैसों को ६००) रु० माहवार ठीक ही तो थे। समय का काम था, फिर कोई फ़िक्र नहीं, वह सुखी थे। बड़े वावू के लड़के की शादी में काम क्या करने गया, उसका तो रुख ही वदल गया। एक दिन वोला, "सरस्वती, मैं भी वड़े बावू की तरह पैसे वाला वनूंगा।"

"क्या कोई तरक्की हुई है ?" सरस्वती ने पूछा।

"अरी पगली, मैं जो कहता हूं।"

फिर गिरीश ने काम से स्तीफा दे दिया। मुश्किल से सरस्वती पांच सात सौ जमा कर पाई थी। एक दिन उसने पूछा, "क्या ७००) रु० से वड़ी कमाई हो सकती है, त्रिवेणीवावू ?"

"गिरीश कोई इंजीनियर भी तो नहीं कि कोई काम खड़ा कर लेता। जुआ-जुआ, रेस क्या इनसे भी धन मिलता है ?" मैंने कहा।

दिन सुहावना था। मैं वस तैयार हुआ था वाहर जाने को, त्रिवेणी वोला। ऊपर से आवाज़ आई, "कौन है ? खूं-खूं, आये तो क्या ?" आने वाला एक मिनट ठहर कर बोला, "नहीं, गिरीश नहीं है।" फिर वह खांस कर बोला, "वीवीजी, आप तो जानती ही हैं, मैं क्यों आया हूं।" एक मिनट सन्नाटा हो गया।

मैं ज़रा ठहर सुनने लगा। सरस्वती ने जवाव दिया, "जानते ही हो, मेरे पास क्या है ? उन्हें आने दो न।"

"क्या पता, गिरीश कव आये ! आजकल तो अक्सर वह वाहर ही रहता है।"

"मैं तो खुद ही मर रही हूं। क्या करूं, वह आते ही होंगे।"

"आखिर मैं भी तो वाल-वच्चे वाला हूं, कुछ न बोलता, पर वच्चों की तरफ़ भी तो देखना पड़ता है। आज किराया नहीं मिला तो कल सुवह जाना ही पड़ेगा।"

"यह और एक मुसीवत आ गई। हे राम, कहां जाऊं ! क्या सचमुच वह भाग ही गये। कभी इतनी देर तो बाहर नहीं रहते थे। मैं तो वेसहारे हूं, क्या करूं ?' सरस्वती रोने लगी।

"पुराने भाड़ेती हैं, इसलिए कुछ नहीं कहता। छः महीने सब्र भी किया

नहीं तो अवतक वह कमरा डवल किराये पर उठ जाता। अव मेरे सब्र का अन्त हो गया।"

"लेकिन मेरे वस की वात होती, तो क्या मैं तुम्हारी वात न रखती ?" विलखती-सी वह वोली।

"यह आप जानें। वस, कल सुवह।" और उसके पैरों की आहट आई।

"निष्ठुर से निष्ठुर भी ऐसा व्यवहार न करेगा। इतनी तो दया कीजिये, उन्हें आ जाने दें।" साथ ही रोना सुना।

शायद उसका दिल पसीजा हो। वाहर से ही उसने जवाव दिया :

"गिरीश एक पैसा भी अव देने वाला नहीं। आप भूखी पड़ी हैं, दवा-दारू का भी ठिकाना नहीं है। और उसे जुए से भी फ़ुर्सत नहीं ! क्या ताश, क्या कौड़ी, क्या रेस कोई भी तो उससे छूटा नहीं। क्या मज़े की नौकरी थी ! प्रतिष्ठा भी थी। सव छोड़-छाड़ कर क्या काम उठाया। वही आपकी परवा नहीं करता, फिर मैं ही कौन हूं ?" वह शायद वापस लौटा। चौखट पर आ उसके पांव रुक गये।

एकाएक फिर वड़वड़ाता हुआ वोला, "क्या पता कि आपने भी उसका छल न सीख लिया हो।"

"नहीं-नहीं, खूं-खूं। वह सुनेंगे तो आप—तुम्हें मार डालेंगे। तुम नृशंस हो—शैतान हो। मैं मर रही हूं, देखते नहीं।" और खांसी का ज़ोर का दौरा उखड़ा।

मकान-मालिक चुप था, किन्तु मेरे मन में वार-वार उसक उठ रही थी। बीमार न होता और मुझे उस समय ज़रूरत न होती तो सम्भव था कि उसकी सहायता कर देता। त्रिवेणी ने ज़रा जोश से कहा।

अव सरस्वती ज़ोर से वोली, "अच्छा, ठहरिये।"

मकान-मालिक रुका ही था। एक कदम उठ कर पड़ा, वस फिर शान्ति।

"देखिए, मैंने कहीं १००) रु० का नोट ज़रूर रखा है।" सरस्वती वोली।

"आप भी ऐसी भोली वातें करती हैं। कहां से मिले आपको रुपये ? और १००) रु० तो दो महीने के होते हैं। खैर, वह भी हों तो।"

"मैं आपसे अव झूठ नहीं कहती। मंझले वावू ने मदद करने के लिए मेरी वनायी तस्वीर २००) रु० में ले ली थी। १००) रु० को खाने-पीने में—खूं-खूं।"

फिर वड़वड़ाने लगी, "यह उस दिन की तो वात है। तस्वीरों की प्रदर्शनी में मैंने दो तस्वीरें वना कर रखी थीं। किसी ने उन्हें खड़े होकर देखा तक नहीं। मंझले वावू सामने से निकले तो नाम देखकर ज़रा ठहर गये और तुरन्त एक तस्वीर ख़रीद ली। मैं तो दूसरी तरफ़ जाकर खड़ी हो गई। मंझले वावू के

साथ उस दिन हरि बाबू भी थे। हरि बाबू से न रहा गया, बोले, 'यह ऐसी तस्वीर आप कहां लगायेंगे।'

'अरे भाई, तस्वीर के लिए थोड़े ही खरीद रहा हूं। कम-से-कम किसी दुखिया की मदद तो होगी।' सुनकर मैं तो पानी-पानी हो गई। एक बार झल्लाई कि सामने जाकर कहूं कि आपको तस्वीर पसन्द नहीं है तो न लें।" शायद सरस्वती के मगज़ पर बीमारी का कुछ असर हो गया था। अक्सर दिनभर कुछ-न-कुछ बोलती ही रहती थी। फिर कुछ नहीं सुना, शायद दोनों मिल कर रुपये खोज रहे थे।

"अच्छा, हां, एक फटा कागज़ का टुकड़ा तो इस गद्दे के नीचे है, लीजिए, खुद देखिये।" मकान-मालिक ने कहा।

"हे प्रभु, पैसे कहां गये ? चोरी हो गये।"

"क्यों ठगने की कोशिश करती हैं ? पैसे थे ही कहां, और होते भी तो गिरीश छोड़ता भी ? अब मैं दया-वया कुछ नहीं जानता, कमरा खाली करना ही होगा।" और बकता हुआ मकान-मालिक लौट चला। मुझसे न रहा गया। ज़रा ठहरने की कोशिश की, इतने में सीढ़ी से हल्की-सी आवाज़ आई। सरस्वती का तो खांसी और रोने के मारे दम घुट रहा था। धीरे से कोई आकर ऊपर के दरवाज़े पर खड़ा हो गया।

"रुपये तो तुम्हारे तकिये के नीचे जो धरे थे, लाटरी खरीदी है।" गिरीश की आवाज़ थी।

"मैं तो मर रही हूं और तुम यह बचे हुए रुपये भी चुरा ले गये ? खूं-खूं-खूं।"

"देखो, यह लाटरी ज़रूर उठेगी। और जानती हो इस टिकिट के कितने रूपये मिलेंगे, पन्द्रह लाख। बस, तीन दिन की देरी है।"

"तुम पागल हो गये हो। अब दोनों भूखे मरेंगे। कुछ दिन तो इससे और निकालते, और यह जाड़े का मौसम बिना छत...।"

"बिना पैसे जब तुम महीना भर चला रही थीं, तो मैं उत्कण्ठित हो गया और खोजते-खोजते वह नोट मिल गया। बस, तीन दिन की बात और है।"

"तब क्या होगा ?" कहकर सरस्वती फिर फूट पड़ी।

"तीन दिन बीते और तुम देखोगी। मैंने मशीनों की लिस्ट बना ली है। कुल दस लाख की स्कीम है। पांच अपने और पांच उधार के। हां, और तुम्हारा यह कमरा। नहीं, दूसरी जगह लेंगे। हां, वह शायद है न ? बड़े बाबू के ड्राइंग-रूम में देखे थे, वह फूलदार क्रीम रंग के वैसे परदे और वह चेस्टर फिल्ड।"

सरस्वती के मुंह से चकित सी 'ऐं' निकली। उसने शायद सोचा हो कि सचमुच लाटरी उठ गई।

"हां, तो सरो, कल वह बड़े डाक्टर हैं न, उनसे मिलने का समय निश्चित हो गया। ११ बजे आयेंगे तुम्हें देखने। अच्छा गलीचा रखोगी या ड्राइंग-रूम में मारबल का फर्श होगा ?" खूं-खूं-खूं, ज़ोर की खांसी उठी, सुना शायद खून की एक कै हुई, गिरीश चिल्ला उठा। फिर शान्त।

गिरीश अपने पाकेट से पालिसी निकाल मकान-मालिक से कुछ सलाह कर रहा था। मुझसे न रहा गया, मैंने भी पूछा। उसने पालिसी मेरे हाथ में दे दी और "हैं" कहकर सिर हाथ पर रखकर बैठ गया। पालिसी के प्रीमियम देने का समय पांच महीने पहले बीत चुका था, अब यह केवल कागज़ का पुर्जा था, क़ीमत कुछ नहीं।

कल मैं टहल रहा था। बड़े बाबू भी मैदान की तरफ़ जा रहे थे। देखा, मानूमेण्ट के पास एक छोटी-सी सभा चल रही है। लाल झण्डा टंगा हुआ है और कोई आदमी गरज कर लैक्चर झाड़ रहा है। मंझले बाबू भी साथ थे। हठात् बड़े बाबू चमके-से, जोर से बोले, "अरे, गिरीश ने यह नया धंधा कब से शुरू कर दिया है ?" मैं भी वहीं ठहर गया और गिरीश का मुंह ताकने लगा। □

कुश्ती के पेच

□

"हां, तो ५ तारीख को अम्बैसेडर साहब लंच पर आ जाय तो बहुत अच्छा होगा।"

उस दिन बाबू श्यामसुन्दर ने मिस्टर चेख़ोव को लंच पर बुलाया था। उसके दाहिने हाथ पर चेख़ोव बैठा था और बाईं ओर था मोहनलाल। मोहनलाल दूसरे स्तर पर तो कब से पहुंच गया था, अब प्रथम स्तर के नेताओं में नाम लिखाने को खस रहा था।

"लंच तेरह"···चेख़ोव कुछ जानना चाहता था। पर बीच में ही मोहनलाल ने टोका, "नहीं जी, १३ नहीं ५ तारीख़ को।"

"ठीक, पर लंच तेरह।" चेख़ोव ने शुरू किया।

"वाह, यह खूब रही! इस हाथ दे, उस हाथ ले! क्यों भई, श्यामसुन्दर, ५ तारीख़ को तुम बुलाओ और १३ तारीख़ को इसका बदला।" मोहनलाल बोला।

"नहीं, लंच तेरह" चेख़ोव मोहनलाल की तरफ़ देखकर कुछ और कहना चाहता था।

"अरे भाई, ठीक तो है। श्यामसुन्दर आयेंगे ही, मैं भी ज़रूर आऊंगा। तुम बुलाओगे तो मैं क्यों न आऊंगा।"

"नहीं, सुनिए, तेरह..." चेख़ोव ने पुनः प्रयत्न किया।

"अरे, हम लोग आधी बात से ही पूरी बात ताड़ लेते हैं। ज़रूर, १३ तारीख़ को ज़रूर आयंगे। मैं भी आऊंगा और यह भी। हो गई न तसल्ली?"

"क्यों, तेरह से क्या मतलब है आपका?" अबकी श्यामसुन्दर से न रहा गया।

"मतलब समझना भी अब कहां बाकी है।" मोहनलाल ने कहा।

"तेरह बजे आप लोग खाते हैं या सवा तेरह बजे?" चेख़ोव ने किसी तरह बात अब पूरी कर ही दी।

"हा-हा-हा! मैं तो पहले ही समझ गया था। यह खूब रही! चेख़ोव साहब कहां निमन्त्रण दे रहे हैं! हां, तो भई, यह तेरह, चौदह केवल टाइम टेबल में

होता है।" मोहनलाल कब चुप होने वाला था।

"अक्सर एक बजे ही ठीक रहता है। पर हां, अम्बैसेडर चाहें तो सवा बजे भी ऐसी कोई बात नहीं।" श्यामसुन्दर ने बताया। "हां, मोहनलाल, आज तुम्हारी कोई मीटिंग थी न ?"

"खूब याद है। हम मीटिंग को नहीं भूला करते। खूब हँसेंगे वहां। वही तो है 'हँसते रहो समिति' की वार्षिक बैठक।"

"शायद वह तो हो चुकी है। अख़बार में तो कुछ और ही देखा था मैंने।"

"अरे, यह तो हम लोगों का रोज़ का बंधा-बंधाया धन्धा है। याद करने की ज़रूरत भी कहां पड़ती है। हम क्या कभी ऐसी बैठकों को भूलते हैं ? पर हां, तीन बजने को आए, अब चलना ही चाहिए मुझे।" मोहनलाल उठ खड़ा हुआ। "अच्छा, हां, तुम्हारी गाड़ी ले जाऊं ?"

हॉल खचाखच भरा था। वैसे हाल कोई ज्यादा बड़ा भी नहीं था। क़रीब दो-ढाई सौ की उपस्थिति रही होगी। मोहनलाल के पहुंचते ही सारी सभा खड़ी हो गई और आर्यजी ने आगे बढ़कर उसे मुख्य मेज पर, सभापति के आसन पर आसीन करा दिया। पहली स्पीच मोहनलाल की ही थी सो वह उठा बोलने :

"सज्जनो !" शुरू ही किया था उसने कि आर्यजी ने प्रस्ताव का काग़ज़ उसकी ओर बढ़ा दिया।

"यह तो ले लूंगा, प्रस्ताव ज़ाब्ते का ही तो है और हँसने-हँसाने के लिए प्रस्ताव होगा भी क्या ! हाँ, तो सज्जनो !" मोहनलाल ने फिर शुरू किया।

"हँसना तो, बस, किसी भाग्यशाली को ही नसीब होता है। हँसो तो सारा जगत साथ हँसता है। पर रोने में कौन साथ देता है ?..."

वह बोल ही रहा था कि दर्शकों में से कोई चिल्ला उठा "शेम-शेम !"

"वाह भई, यह भी खूब रही ! जनाब, हँसने में मैं न किसी से शर्माता हूं, न डरता हूं..."

"बैठ जाइए।" एक ज़ोर की आवाज़ आई।

आर्यजी फुसफुसाए, "सर विद्यापति।"

"सज्जनो ! आर्यजी कहते हैं 'आनन्ददायक', और एक आप लोग हैं, जो आनन्द लेने से शर्माते हैं"...

आर्यजी ने फिर चुपके से कहा, "सर विद्यापति पर है।"

"अजी, वही तो आनन्ददायक, हां, आज का दिन आनन्ददायक है, वैसे ही दिन..."

"बू...बू..."साथ ही, दसों आवाज़ें निकलीं।

"सज्जनो ! रोने में ५४ नसें काम करती हैं, इसलिए रोने वाला शीघ्र थक

जाता है..."

"वकवास, यह बन्द करो।" फिर हल्ला हुआ।

मोहनलाल की समझ में न आ रहा था कि आज उसका भाषण इतना कोरा क्यों पड़ रहा है। सदा तो लोग उसका भाषण वड़ी रुचि से सुना करते हैं। वोलना उसने फिर भी जारी रखा।

"हां, तो सज्जनो ! हँसने में केवल ४ नसों को ही काम करना पड़ता है। तो फिर क्यों न हँसा जाय ? हँसो, खूब हँसो..."

"वेहूदे !...मग़ज तो ठिकाने है ?...वैठो, वैठो..." एक साथ कई आवाज़ें उठीं।

आर्यजी ने मोहनलाल का कुरता खींचा।

"भई आर्यजी, आप ही तो मुझे वाधा दे रहे हैं।" उसने धीरे से उनकी तरफ़ मुंह करके कहा।

आर्यजी ने प्रस्ताव फिर उसकी तरफ़ धीरे से वढ़ा दिया। मोहनलाल ने हाथ का इशारा करते हुए कि ज़रा ठहरिए। फिर शुरू किया :

"सज्जनो ! आर्यजी का आग्रह है कि प्रस्ताव पहले पढ़ा जाय, पर मैं कहता हूँ कि हमारे हँसने में यह प्रस्ताव कौन-सा योग देगा ? आखिर उद्देश्य तो हमारा यही है कि हँस-हँसकर ज़िन्दगी..."

"सर विद्यापति की तौहीन है...निकालो इसे..." सामने वैठे कुछ लोगों ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा।

"सज्जनो ! मैं तो यही कह रहा था, आप ज़रा शान्ति से सुनें तो। सर विद्यापति ने विपत्तियां हँस-हँसकर उड़ा दीं। मुसीवतों से वे हँसकर लड़े और खूब लड़े। देश को हँसाया, जग को हँसाया, गरीवों को हँसाया। अपने कामों से जनता के रीते जीवन में हँसी भर दी। रोने को, दुखड़े को, उन्होंने कभी सहयोग नहीं दिया। ऐसे वीर, धीर, महान् पुरुष का अपमान होगा, यदि हम उनके लिए शोक मनायें। मैं कहता हूं, सज्जनो ! ऐसे मनुष्य के लिए जिन्होंने हँसी से सारी बाधाओं को काफूर वना दिया, शोक प्रदर्शन क्यों ? क्या यह उनकी सुन्दर कृति को भुलाना नहीं होगा ? मैं कहता हूं हटाइए इस शोक प्रस्ताव को, फेंकिए इस सड़ियल रीति-रिवाज को। आज की दुनिया वह पुरानी दुनिया नहीं रही। आज सर विद्यापति का शोक मनाने का तरीक़ा महज़ यही है कि उनकी तरह खूब हँसिए, हँसते-हँसते सारी कठिनाइयों को हवा में उड़ा कर दीजिए।"

तालियों की गड़गड़ाहट में मोहनलाल ने फिर से आसन सुशोभित किया।

"मैं तो घवड़ा गया था।"

"क्यों ? ऐसी क्या वात थी ?"

"शायद, मैं समझा, आपने 'हँसते रहो समिति' की बैठक न समझी हो। वह हो चुकी।" आर्यजी ने डरते हुए से कहा।

"भई, आर्यजी, आप भी कमाल करते हैं। ऐसी ग़लत बात, भला बताइए, मैं कैसे समझता ?" मोहनलाल ने तड़ाक से जवाब दिया। उसका चेहरा खिला हुआ था।

सुबह-सुबह मोहनलाल ने अख़बार उठाया, तो एक नाम पर सीधे नज़र गड़ गयी। लन्दन में होने वाले 'निरामिषभक्षी पालतुओं पर विश्व सम्मेलन' में जाने वाले डेलीगेटों का नेता सरकार ने मोहनलाल को ही चुना था। किन्तु नेता चुने जाने की उसे कोई ख़ास खुशी न थी। इस स्थान का तो वह माना हुआ हक़दार था। इण्टर साइंस करते वक्त मोहनलाल ने कुछ दिन जीव विज्ञान (बायोलोजी) विषय भी लिया था और दो-चार मेंढकों को अपने हाथ से काटा भी था। अब भी मोहनलाल के घर में अलसेशियन कुत्ता था, और खास बात तो यह थी कि जब साबरमती आश्रम में एक सांप को, परीक्षण के लिए ४० दिन भूखा रखा गया था, तब ६ वर्ष का बालक होते हुए भी मोहनलाल ने इसका विवरण 'नवजीवन' पत्र में बड़ी रुचि और ध्यान से पढ़ा था। हां, एक बार अपने मामा के घर पर पिंजड़े में पला हुआ एक सुग्गा भी उसने देखा था। इसलिए वह समझता था कि पालतुओं के बारे में वह काफ़ी विज्ञ है। पर विदेशी मुद्रा की कमी के इस ज़माने में वह विदेश जा सकेगा, इस बात की खुशी उसे ज़रूर थी।

मगर उसकी पत्नी का बुरा हाल था। अन्दर-ही-अन्दर अधीर हो रही थी। मोहनलाल ने धीरज बंधाते हुए कहा, "सीता, क्यों यों नाहक मन को झुलसा रही हो ? मैं वहां से ज्यादा स्वस्थ होकर लौटूंगा।"

मोहनलाल ने बम्बई से हवाई जहाज लेने का तय किया। क्यों न इसी बहाने रोम भी देख लूं, उसने सोचा और पहला पड़ाव रोम का रखा। रोम में वहां की भाषा समझने में सहूलियत हो, इस ख़याल से उसने एक इटालियन कोश भी खरीद लिया।

आखिर ६ जून की रात को मोहनलाल का जहाज उड़ा। जहाज में बैठते ही जैसे हवा बदल गई हो। उसे भूख भी अच्छी लग आई। खूब डटकर खाया और पैर फैलाकर गहरी नींद ले ली। थोड़ा ही सो पाया था कि पौ फट आई और जहाज दहरान उतर गया।

सुबह का समय होते हुए भी दहरान में लू काफ़ी थी। पर अन्दर वेटिंग रूम, मशीन लगाकर ठण्डा कर लिया गया था। भीतर बैठते ही मोहनलाल के सामने एक गिलास अंगूर का ठण्डा रस पेश कर दिया गया। तृप्त होकर उसने उसे पिया भी। जहाज का कम खर्चीला 'इकोनोमी' क्लास खचाखच भरा था, और जहाज उड़ते ही दोनों शौचगृह रुक गए। मोहनलाल की आदत वैसे रोज़ सुबह देर से उठने की थी, पर दिन न भी चढ़ा हो तो भी घड़ी के हिसाब से तो समय हो चुका था। फिर खाने में भी मोहनलाल ने कसर न रखी थी। बड़ी मुसीबत से जबड़ा भींचकर

वह बैठा था।

दूसरा पड़ाव वसरा था। यहां-पहुंचते-पहुंचते मोहनलाल की हिम्मत टूट गई। क्यू बांधकर मुसाफ़िर विश्रामगृह के संकरे रास्ते से अन्दर जा ही रहे थे कि सबको धक्का देकर मोहनलाल उधर को दौड़ा। कस्टम के सिपाहियों ने पहले तो कुतूहल से उधर देखा, पर जब मोहनलाल को उधर झपटते हुए पाया तो उन्हें पूरा सन्देह हो गया और पीछे-पीछे दो सिपाही भी दौड़े। जो झपट मोहनलाल ने लगाई, तो सिपाहियों की क्या मजाल कि उसे जा पकड़ते ! मोहनलाल ने शौचगृह में जाकर भीतर से कुण्डी लगा ली। सिपाहियों ने दरवाजा खटखटाया, फिर सामने खड़े होकर उसके बाहर निकलने की राह देखने लगे।

किन्तु अब थोड़े समय बाद मोहनलाल की बारी आई दरवाज़ा खटखटाने की। कुण्डी दरवाज़े पर उसने चढ़ा तो दी, पर खोलना मुश्किल हो गया। इधर दोनों सिपाही अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। अन्दर से जितना दरवाज़ा खटखटाया गया उतना ही बाहर से भी जवाब दिया गया। उनमें से एक ने जाकर अपने अफ़सर को बुलाया, तब कहीं समस्या हल हुई। ऊपर के रोशनदान का शीशा तोड़कर किसी तरह मोहनलाल को बाहर निकाला गया, और जहाज वहां से आधा घण्टा देर से चला।

चन्द घण्टों में रोम के फ्यूमीसीनो हवाई अड्डे पर जहाज उतरा। सामान फेंकता-गिराता किसी तरह मोहनलाल बस पर बैठकर शहर पहुंचा और होटल में नाश्ता करके घूमने निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर पहुंचा होगा कि एक फेरीवाला हाथ में क़लम लिये उसके पास पहुंचा। क़लम दिखाकर उसने कहा, "सेनर ! यह तो एक उपहार है, जो मैं आपको दे रहा हूं। ऐसी सस्ती पार्कर क़लम आपको मिलेगी कहां ?"

मोहनलाल ने काग़ज़ पर क़लम चलाकर देखा, घुमा-फिरा अच्छी तरह देखकर सन्देह के स्वर में पूछा, "अच्छा ! ठीक, पार्कर क़लम।"

"यह तो आप देख ही रहे हैं। देखिए, तसल्ली कर लीजिए।"

कहीं से चुराकर भी लाया है, तो यहां विदेश में मेरा क्या बिगड़ता है, मोहनलाल ने विचार किया। "अच्छा, क्या दाम लोगे ?"

दरमोलाई के बाद १० रुपये के बराबर लीरा में सौदा पटा। मोहनलाल ने दाम चुकाकर वापस होटल की तरफ़ मुंह मोड़ा। उसे अब भी कुछ सन्देह था और वह उसे अपनी असली पार्कर क़लम से मिलाकर देखना चाहता था। होटल के लाउंज में बैठकर मोहनलाल ने जेब में हाथ डाला, पर उसमें क़लम न थी। एक-एक करके अन्दर के और बाहर की सारी जेबें देख डालीं, पर क़लम का नामोनिशान भी न था। शायद कमरे में भूल आया हूं, उसने सोचा। किन्तु क़लम वहां भी न मिली। अब धीरे-धीरे उसकी समझ में आया कि वह फेरीवाला बातें करते-करते

उससे एकदम सट गया था। नकली क़लम के वदले सच्ची पार्कर भी गई और साथ ही दस रुपये भी।

हाथ में दिन ज्यादा नहीं थे, अतः दूसरे ही दिन मोहनलाल ने वहां से प्रस्थान करने की तैयारी की। खाते-पीते, होटल का विल चुकाने में इतना समय लग गया कि वस हवाई अड्डे की ओर चल पड़ी थी। अव टैक्सी के सिवाय वहां पहुंचने का कोई उपाय न था। मोहनलाल ने नये ख़रीदे कोश का उपयोग करने की ठानी। इटालियन भाषा में ही उसने हुक्म दिया "इल पोर्टो" (पोर्ट पर)। उसने पोर्टो के पहले 'एयर' शब्द लगाने की ज़रूरत नहीं समझी। "कौन इस ज़माने में समुद्र यात्रा करता होगा?" उसने अपने आप कहा।

"ॲपो लोनटानो।" (दूर है) ड्राइवर ने बताया।

इतना ज्ञान मोहनलाल को न था, और ड्राइवर के सामने अपनी हीनता का प्रदर्शन करना तो वेइज्ज़ती थी। सटाक से जवाब दिया, "सी, सी।" (हां, हां)।

टैक्सी तेज़ी से चल पड़ी। कुछ दूर तो मोहनलाल चारों तरफ़ के दृश्यों को देखने में मशगूल रहा, पर जव आधा घण्टा चलने पर भी हवाई अड्डा न दिखाई दिया, तो ज़रा चौकन्ना होने लगा। मन को किसी तरह कुछ देर और कावू में रखा, पर अन्त में रहा न गया। अवकी उसने अंग्रेज़ी में ही पूछा, पर वहां अंग्रेज़ी कौन जानता था?

"आनकोरा थर्टी किलोमेटरी।" (और तीस किलोमीटर) ड्राइवर ने वेपरवाही से जवाव दिया।

इसका अर्थ समझना तो मोहनलाल के लिए वहुत दूर की वात थी। उसके मन में अव घवराहट भी हो उठी। वह तरह-तरह से समझाने की कोशिश में था, कि गाड़ी रुके। अन्त में वह ज़ोर से चिल्लाया, "ठहरो, ठहरो।"

टैक्सीवाला समझा हो या नहीं, पर मोटर रुक गई। संयोग से सामने से एक दूसरी मोटर आ रही थी, और वे लोग अंग्रेजी भी जानते थे। उनसे सहायता लेकर मोहनलाल ने मोटर पीछे को घुमवाई, पर जहाज उड़ चुका था। अव उसे दूसरा जहाज लेना पड़ा।

लन्दन की हवा वड़ी अनिश्चित रहती है। मोहनलाल जव वहां पहुंचा, तो कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और होटल पहले से रिज़र्व न था। ओवरकोट पास में था नहीं। कांपते-कांपते तीन-चार घण्टे घूमकर उसने एक छोटे-से होटल में आश्रय लिया। जवतक रज़ाई और कम्वल ओढ़कर लेट नहीं गया, उसकी कंपकंपी दूर नहीं हुई।

दूसरा दिन छुट्टी का था। सम्मेलन तीसरे दिन शुरू होना था। सुवह धूप निकली और हवा में गर्मी आ गई। मोहनलाल पाजामा और कुर्ता पहनकर कमरे

में बैठा ही था कि दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ सुनायी दी। झांककर देखा तो एक व्यक्ति सम्मेलन के काग़ज़ात लेकर खड़ा था। विना सोचे कि यह हिन्दुस्तान नहीं है, मोहनलाल सपाट से वाहर निकल काग़ज़ लेने लगा। हवा का एक झोंका आया और कमरे का दरवाज़ा वन्द हो गया। दरवाज़ा विना चाभी वाहर से खुल नहीं सकता था, और चाभी अन्दर वन्द थी। कागज लाने वाला भी जव नाक-भौं चढ़ाकर चला गया, तव मोहनलाल के दिमाग़ में वात उतरी कि वह यह क्या कर गया।

उसके कमरे के सामने लम्वा वरामदा था और होटल के कमरे इसी वरामदे में खुलते थे। सामने के कमरे का दरवाज़ा खुला और एक मेम वाहर निकली। मोहनलाल को और तो कुछ सूझा नहीं, वह पास पड़े हुए सोफे के पीछे जाकर छिप गया। यकायक दूसरे कमरे से एक मेम और निकली, और दोनों ठीक कोच के सामने खड़ी गप्पें लगाने लगीं। अव वेचारे मोहनलाल का वुरा हाल था। पसीने से तरवतर चुपचाप वैठा था। औरतों की वातें, और जव दो दोस्त मिल जायें, तो फिर पूछना ही क्या ! मोहनलाल के हिसाव में तो शायद दो घण्टे वीत चुके, लेकिन कम भी वीते हों, तो भी उसके लिए यह पूरी मुसीवत थी। उसके भाग्य से फिर वही आदमी उधर आ गया, और मोहनलाल ने होटल की चाभी मंगाकर कमरे का दरवाज़ा खुलवाया।

सम्मेलन के दिन हवा ने फिर रुख़ वदला, और ठण्ड वढ़ गई, पर आज मोहनलाल ठण्ड का मुकावला करने के लिए तैयार था। उसने एक रेडीमेड ओवरकोट खरीद लिया था। हालांकि माप से वह कुछ वड़ा तो था, पर ऐसी ठण्ड में यदि कोट नीचे तक ढक ले, तो और भी अच्छा था।

अर्ल्स कोर्ट में सम्मेलन के साथ-साथ पालतुओं की नुमायश भी थी। तरह-तरह की चिड़ियां, खरगोश, वन्दर, कुत्ते, सव पिंजड़ों में रखे गये थे। मोहनलाल उन्हें देखने में मशगूल था कि एक पहचाना-सा चेहरा पास आ खड़ा हो गया। दोनों ने एक-दूसरे की ओर ज़रा ध्यान से देखा, और दोनों के मुंह से एक साथ ही 'हेलो' निकल पड़ा।

"मिस्टर सिम्पसन, सर आपसे मिलकर वेहद खुशी हुई।"

"ओ, मिस्टर मोहनलाल, वड़ा खुश हूं मैं आज तुमसे यहां मिलकर। अव तो तुम वड़े नेताओं में हो !"

"आपका मेरा सम्वन्ध तो वहुत पुराना है", उसने गद्‌गद् होकर कहा।

वात यह थी कि लड़ाई के दिनों में मि० सिम्पसन हिन्दुस्तान में होम महकमे में थे, और मोहनलाल १५० रुपये माहवार पर उन्हें पार्टियों की गतिविधि की ख़वर देने को तैनात था। लोगों को नेता मोहनलाल के इस रूप का पता न था,

और अब मोहनलाल यह विदित भी नहीं होने देना चाहता था। जब मि० सिम्पसन रिटायर होकर आये, तो वह निश्चिन्त हो गया।

इधर-उधर की खबर पूछकर मि० सिम्पसन ने मोहनलाल के कोट को, और खासतौर से उनकी दो जेबों को ज़रा ध्यान से देखकर पूछा, "एक मदद करोगे ?"

"वाह सर, आप भी कैसी बात पूछते हैं।" मोहनलाल ने जवाब दिया।

"मेरे पास इस काग़ज़ के डिब्बे में नाचने वाला एक मेंढक है। मैं दो घण्टे बाद बोल रहा हूं तबतक यह डिब्बा तुम अपनी जेबों में रख लो। मुझे कुछ ज़रूरी काम से जाना है।" मि० सिम्पसन ने कहा।

"ज़रूर, इसमें ऐसी क्या बात है !" उसने डिब्बा लेकर अपनी जेब में रख लिया।

सम्मेलन का हाल खचाखच भरा था। दुनिया की लगभग सभी जातियां, भिन्न-भिन्न देशों की, वहां उपस्थित थीं। मोहनलाल के अलावा हिन्दुस्तान के चार और सदस्य पहले से ही बैठे थे। लार्ड कोक्ल स्पैरो का भाषण चल रहा था। मोहनलाल झुकता-सा चुपचाप अपने स्थान पर जा बैठा। उसने उपस्थित हिन्दुस्तानी सदस्यों को नमस्कार किया और ध्यान से भाषण सुनने लगा।

लार्ड कोक्ल स्पैरो के कन्धे पर एक बाज बैठा था। वह कह रहे थे, "सज्जनो, इस बाज़ ने आजतक मांस भक्षण नहीं किया। यह निर्भर करता है आप पर। आप चाहें तो आपके पालतू निरामिष रहेंगे।"

यकायक मोहनलाल को पाकेट में कुछ हलचल मालूम दी, और देखते-देखते एक मेंढक उछलकर जमीन पर फुदकने लगा। मोहनलाल क्या करे, यह तय करते कुछ क्षण ही लगे, और वह साथ-ही-साथ अपने चारों हाथ-पैरों के बल ज़मीन पर बैठकर मेंढक को पकड़ने की कोशिश करने लगा। मगर मेंढक मोहनलाल के हाथ पड़ने के पहले ही एक छलांग और मार गया। साथ ही मोहनलाल भी फुदक-फुदक कर उसका पीछा करने लगा। हॉल में लोग खड़े होकर इस तमाशे को देखने लगे। लार्ड कोक्ल स्पैरो भी बढ़कर मंच पर आगे आ खड़े हुए, और मोहनलाल के शिकार का मज़ा लेने लगे। किन्तु कोक्ल स्पैरो के कन्धे पर बैठे बाज़ को यह माजरा पसन्द न आया। उसने एक बार अपने पर हिलाये और दूसरी बार पर हिलाकर झपट्टा मारा, मेंढक को पंजे में दबाकर कार्निश पर वह जा बैठा और आराम से नाश्ता करने लगा।

मोहनलाल को तो जैसे काठ मार गया हो। वह अवाक् होकर मेंढक की तरह हाथ-पैर पसार बैठे-बैठे देखने लगा। सभासदों में से कोई चिल्ला उठा, "अरे ! यह तो मांसाहारी है।" बस, फिर क्या था, सारी सभा में हल्ला मचगया "शेम, शेम"। "यह कोक्ल स्पैरो तो धूर्त है।...इसे धक्के मारकर बाहर निकाल दो

एक आध अण्डा भी मंच पर आ गिरा, पर कोक्ल स्पैरो का स्टेज पर कहीं पता भी न था। शायद स्थिति को भांपकर वह पिछले रास्ते से भाग गया था।

वड़ी कठिनाई से सभापति ने हल्ला रोका और सबको शान्त किया। लार्ड कोक्ल स्पैरो के ग़ायब हो जाने पर अब कोई विशेष प्रश्न भी नहीं रह गया था। पर लार्ड कोक्ल स्पैरो का 'निरामिषभक्षी पालतू समिति' के सदस्यों में से नाम काट देने का प्रस्ताव पारित होने पर ही सभा की कार्रवाई आगे चली। इसके वाद हिन्दुस्तान के मुख्य सदस्य का नाम पुकारा गया, और मंच पर मोहनलाल आ खड़ा हुआ। शुरू किया उसने :

"सभापति महोदय, देवियो और सज्जनो, मेरे देश के पालतुओं को चाहने वालों तथा उनके मित्रों की ओर से मैं आज इस सभा का अभिवादन करता हूं। खास करके मेरा देश इस दिशा में वहुत अग्रगामी है। जितने किस्म के पालतू पशु-पक्षी हमारे देश में रखे जाते हैं, उतने दूसरे देशों में नहीं देखे जाते। उस ग्रीष्मऋतु की रात को, दिन की तेज़ गर्मी से विश्रान्त होकर, जूही की सुगन्धित शीतल हवा में, छोकरे अपनी पतली मलमल की, चमचमाते जुगुनुओं से विभूषित टोपी को सिर पर रखकर जब निकलते हैं तो लोग उसे देखकर अणु विद्युत् के जादू की तरह उससे स्तम्भित हो जाते हैं। यू० पी० के गांवों में तो जब बटेरों का दंगल होता है, तो वहां का उल्लास आपके फुटवाल के क़द्रदानों को मात कर देता है। किन्तु मैं आज सिर्फ़ इस सम्मेलन की एक बड़ी कमी की तरफ ध्यान खींचकर ही आपसे विदा ले लूंगा। यह बड़े खेद का विषय है कि यहां की नुमायश में हम लोग इतने सुपरिचित काले नाग जैसे पालतू प्राणी को रखना भूल गये।"

"आपका मतलब है विषधर सर्प से ?" किसी ने चिल्लाकर पूछा।

"यह विष ही तो गठिया की अचूक दवा है।" मोहनलाल ने जवाब दिया।

"किन्तु सर्प और निरामिषभोजी ?" दूसरी आवाज़ आई।

"मित्रो, यही तो जानने की वात है।"

"और वह तो मेंढक और कीड़े खूब चटकर जाता है।" फिर कोई चिल्लाया।

"सभापतिजी ! क्षमा करेंगे, यदि मैं कहूं कि मेरे ये मित्र कितने भोले हैं ! सज्जनो, कभी-कभी सांप सौ-सौ दिन केवल वायु-भक्षण पर ही ज़िन्दा रह जाता है। आप उसे दूध पिलाकर तो वहुत खुश रख सकते हैं। और वह उसका मनमोहक नृत्य ! आपकी मोहन वांसुरी के साथ-साथ अपनी पूंछ पर खड़ा होकर, मीठी फुफकार मारता हुआ जब मस्त होकर वह झूमता है तब देखने वाला सबकुछ भूल कर उसी रस में डूब जाता है। वह चौड़ा फैला हुआ फण, लाल, पतली, तीखी जीभ, और तेज़ आंखें, सब आपको इतना आकर्षित कर देती हैं कि कालिया के फण ताल पर आपका सिर भी ताल देने लगता है। मैं खूब दृढ़ता के साथ कह सकता हूं कि ऐसा मोहक चित्र आप लोगों को शायद ही कभी नसीब हुआ हो और

ऐसे—ऐसे पालतू-शिरोमणि को आपका यह सम्मेलन एकदम भूल गया !"

सभा में पूर्ण शान्ति थी और लोग मन्त्रमुग्ध-से होकर मोहनलाल का भाषण सुन रहे थे। उसका भाषण समाप्त होते न होते तालियों की इतनी गड़गड़ाहट हुई कि जैसे प्रशांत रात्रि में अचानक बादल गरज उठा हो, और मोहनलाल नम्रता से नतमस्तक हो अपने स्थान पर आ बैठा।

सम्मेलन के समाप्त होते ही मोहनलाल ने पेरिस होकर हिन्दुस्तान जाना तय किया। हवा का रुख ख़राब ही चलता था। दूसरे दिन धुंध और बढ़ गई। मोहनलाल हवाई अड्डे पर तो जा पहुंचा, पर जहाज का उड़ना कठिन था। उधर पेरिस की तरफ़ धूप थी और विशेषज्ञों का कहना था कि दस मिनट भी यदि खुला मिल जायेगा, तो विमान चल देगा।

सुबह ९ बजे के बदले दिन के १२ बजे लाउड स्पीकर पर घोषणा हुई कि पेरिस के जहाज जा रहे हैं। मोहनलाल ने भी अपना छोटा बैग उठाया और पांच नम्बर के रास्ते से चलकर जहाज पर जा पहुंचा। जब सब बैठ गये, तो जहाज वालों ने अपनी सूची से मुसाफिरों की संख्या मिलाई, पर एक मुसाफ़िर अधिक निकला। तीन बार मिलाने पर भी हिसाब ठीक नहीं बैठा, तो टिकट संभालने शुरू किये।

"महोदय, आपका टिकट तो २०९ सर्विस से है, यह २०७ सर्विस है।" स्टुवर्ड ने मोहनलाल का टिकट देखकर कहा।

"इसमें क्या फरक पड़ता है ? दोनों ही विमान तो पेरिस जाते हैं।" मोहनलाल ने जवाब दिया और पैर फैलाकर सीट पर बैठा रहा।

"आपका विमान २०९ भी अभी जा रहा है।" स्टुवर्ड ने फिर प्रार्थना की। पर मोहनलाल तो टस-से-मस न हुआ। आखिर कैप्टेन को बुलाया गया, तब मोहनलाल उतरा। किन्तु इतने समय में धुंध फिर बढ़ गई, और उड़ान रुक गई। २०७ सर्विस के सब मुसाफिर मोहनलाल को कड़ी नज़र से ताकने लगे। किन्तु अब हो क्या, सबको ठहरना ही पडा। पर हां, दूसरी उड़ान में मोहनलाल को २०७ सर्विस में जगह मिल गयी, और वह किसी तरह पेरिस पहुंच गया।

इसके बाद मोहनलाल से रिपोर्टरों का साथ छूट गया और वहां उसने क्या देखा या क्या किया, इसका पता किसी को न लगा। लेकिन जब वह हिन्दुस्तान पहुंचा तो एक आंख पर घूंसा लगने का निशान ज़रूर बना था। पूछने पर उसने बताया, "साहब, यह वाकया क्या बयान करूं। ऐसे मौके पर ही तो मनुष्य की सच्ची पहचान होती है। एक दिन शाम को घूमकर आ रहा था। देखता क्या हूं कि एक सुनसान गली में एक गुण्डा एक सम्भ्रान्त महिला के पीछे पड़ा है। बस, मैंने आव देखा न ताव, गुण्डे से ऐसी मुठभेड़ की तो भगाकर ही छोड़ा।"

कुछ लोग सभी जगह ऐसे होते हैं और यहां भी हैं। उनका अनुमान तो उस रंगीले पेरिस की घटना का कुछ और ही है। □

अनतीत की बात

□

ऊलर के किनारे सरकारी विश्रामघर में ठहरा था। वर्षा अभी-अभी थमी थी, पर बादल घिरे थे। दिन भर बंगले में बैठे ऊब गया था, इसलिए पानी बन्द होते ही निकल पड़ा।

झील के किनारे चलते-चलते एक पत्थर पर जा बैठा। बादल की परछाइयां झील पर हिलोरें खा रही थीं, कभी-कभी हवा का झोंका तीर की तरह आ लगता था; किन्तु गरम कोट कुछ हद तक बचा लेता था।

देखा, सामने अजीब-सा घुटने तक का घाघरा और नयी तरह का कोई विचित्र-सा ब्लाउज पहने एक १६-२० साल की युवती खड़ी तृप्त दृष्टि से झील और पहाड़ी दृश्य को देख रही है। कुछ देर तो मैं ठहरा, फिर नहीं रहा गया। पूछ ही बैठा, "आप यहीं कहीं ठहरी हैं या शहर से आ रही हैं?"

चमक कर उसने जवाब दिया, "जी, यहीं क़रीब मेरा घर है।" और सामने एक पहाड़ी के नीचे फैले हुए वृक्ष की तरफ़ इशारा कर दिया। मैंने चारों ओर बड़े ग़ौर से दृष्टि घुमाई, किन्तु सिवाय पहाड़ों के और वृक्षों के कुछ भी दिखाई न पड़ा। दूसरी तरफ़ थी विस्तृत झील।

मैंने पूछा, "क्या पास कोई गांव है?"

"जी, इसी शहर में १६७७वीं सड़क पर मेरा बंगला है।"

मुझे उसकी अक्ल पर कुछ शक होने लगा। डरा कि कहीं झील में न गिर पड़े, कहीं हत्या का इल्जाम न लग जाय। "क्या आपके साथ कोई आया है?"

"जी, दो मिनट के रास्ते पर तो मेरे पिताजी रहते ही हैं।" किन्तु उसने मेरी तरफ़ कुछ ध्यान से देखा और फिर चमक पड़ी। बोली, "माफ़ करिए, मैंने सोचा नहीं कि आप १९६३ में बातें कर रहे हैं।"

"आपकी तबीयत तो ठीक है न?"

सुनते ही वह हँस पड़ी।

"बात यह है कि मुझे प्राकृतिक दृश्य बहुत अच्छे लगते हैं, इसलिए कभी-कभी शहर को भुलाने सन् १९६३ में आ जाती हूं।"

उसकी पोशाक अजनबी-सी थी और विचित्र ढंग से पहनी हुई थी। कपड़ा भी कुछ ऐसा जो मैंने कई शहरों में नहीं देखा था। कहीं कोई मोटर भी नज़र न आई और पैदल इतनी दूर किसी का जाना मुश्किल बात थी। फिर भी गुत्थी समझ नहीं रहा था।

"सन् १९६३ तो चल ही रहा है ?"

"मैं अतीत की बात भूल जाती हूं और गड़बड़ कर बैठती हूं।" यह कह कर युवती पास ही पत्थर पर बैठ गई। कौतूहल से मैं उसका मुंह ताकता रहा कि कहीं यह समस्या शायद हल हो जाय।

युवती ने बैठ कर निःश्वास छोड़ी। कहने लगी, "मैं एक तरह से कानून भंग कर रही हूं। काल-यन्त्र का उपयोग करना वर्जित है। केवल वैज्ञानिकों के शोध के लिए सरकार से इजाज़त मिलती है और बड़े-बड़े वैज्ञानिक ही इसका उपयोग कर पाते हैं।"

मैं फिर भी कुछ न समझा। उसकी तरफ आंख गड़ा कर देखता ही रह गया। और कुछ न सूझ पड़ा तो बोल उठा, "मेरा नाम हर्षवर्द्धन है। बम्बई शहर से आया हूं।"

"यह बम्बई शहर क्या अब भी बना हुआ है ? मैंने तो पढ़ा था कि गत युद्ध में झूलू विद्युत-शिखा की मार से नष्ट हो गया।"

समस्या और भी गहन हो गई। मैंने पूछा, "क्या आपका परिचय पा सकता हूं ?"

"मेरे पिताजी तो मुझे लाड़ से शिखा कहते हैं। मेरा असली नाम है—एफ. बी. एक्स. ५६६।"

और भी हैरानी हुई। अब तो दृढ़ विश्वास हो गया कि उसके मस्तिष्क में कहीं कोई पुर्जा ढीला जरूर है। जरा सावधानी से बैठ गया। यह हरकत उससे छिपी न रही और वह हँस पड़ी।

"हर्षवर्द्धनजी, क्षमा करिये, मैं ग़लती-पर-ग़लती कर रही हूं। यह असल में सन् २१०० का शहर है। जब आबादी बढ़ने लगी और रक्षा का साधन भी जरूरी हो गया, तो पहाड़ियों के भीतर शहर बसाये गये।

"मेरे पिताजी महान् वैज्ञानिक हैं। उन्होंने एक काल-यन्त्र मेरे लिए बना दिया। मुझे प्राकृतिक दृश्यों से बेहद प्रेम है और इसलिए कभी-कभी इस आपके समय में घण्टे दो घण्टे आनन्द कर जाती हूं। अब काल-यन्त्र सिवाय सरकार के और कोई नहीं रख सकता ; किन्तु पिताजी ने चुपचाप मेरे लिए एक बना कर रख दिया।"

"मैं क्या आपके युग के बारे में और पूछ सकता हूं ?"

युवती ने सिर हिलाकर "हां" कर दिया।

"आपके रहन-सहन और वाहन इत्यादि के क्या साधन हैं ?"

"हमारे शहर पहाड़ या पाताल में वने हैं। वायु, सूर्य सव हमने वना लिये हैं। दिन में सूर्य की रोशनी ८ घण्टे पूरे विटामन दे देती है, और सारा शहर एयर-कन्डीशन्ड है। हां, जो लोग वीमार हैं और जिन्हें अव वाहर का कोई खौफ़ नहीं, वे पुराने ढंग के वंगले वनाकर वाहर रहते हैं। ऐसे कोई तीन-चार हजार वंगले १९७७ से लेकर २०००वीं सड़कों के वीच वने हैं।

"मेरे पिताजी, पृथ्वी को दूसरे सूर्य ब्रह्माण्ड में स्थानान्तरित करने की जो शोध चल रही है, उसमें कार्य करते हैं। चार साल पहले दूसरे ब्रह्माण्ड के सूर्य की किरण से घायल हो गये, तव से हम लोग वाहर वंगले में रहते हैं। वाहन की कोई दिक्कत नहीं है। यह जो चमकता हुआ वटन आप देख रहे हैं, यह है 'भूम्याकर्षण-प्रतिरोध-यन्त्र'। जहां इसे चलाया कि शरीर विना वज़न का हो जाता है और फूंक मार कर उसे कहीं भी उड़ाया जा सकता है। हवा पैदा करने के लिए यह आप सीटीनुमा यन्त्र मेरे पास देख रहे हैं, यह कोवाल्ट जेट है।"

युवती ने अपने हाथ की ओर देखा और उठ खड़ी हुई। मैं इतना ही पूछ पाया कि "कल फिर मिलेंगी ?" शिखा "हां" करके चल पड़ी और देखते-देखते वड़े पेड़ के पास पहुंच कर गायव हो गई।

दूसरे दिन सुवह से ही मैं उत्कंठित हो उठा। नौकर तीन वार खाना लेकर घूम गया। वार-वार घड़ी ताकते देखकर उसे भी मेरे वारे में घवराहट हो गई। कुर्सी पर तो मेरा वैठना ही कठिन हो गया, कभी वरामदे में, तो कभी कमरे में घाणीमाणी करने लगा। जवतक तीन न वजे, मेरा हाल वेहाल था। जैसे ही घड़ी ने तीन वजाये, मैं चल पड़ा। नौकर पीछे-पीछे दौड़ा, "वावू, आपकी तवीयत ज़रा ठीक नहीं है, मैं साथ चलूं ?"

"अवे, पागल है, मैं विल्कुल ठीक हूं, यहीं रह।" और वेग गति से चल पड़ा। पत्थर पर तो पहुंच गया, किन्तु वहां के सुनसान से उत्कंठा और वढ़ी। वात यह थी कि पहले दिन से २० मिनट जल्दी वहां पहुंच गया था। खैर, देखते-देखते जव मैं आशा खो चुका तो सामने से शिखा को आते देखा। पोशाक आज उसकी दूसरी थी। घाघरा और व्लाउज़ सव जुड़े हुए, अजव चमकीले रंगे हुए थे। कल की तरह वह पास आकर वैठ गई।

"पिताजी आज कुछ वेचैन हैं, मुझे जल्दी जाना होगा।"

"मैं तो डर रहा था कि कहीं काल-यन्त्र आपको कल की तारीख में ही फिर न पहुंचा दे।" मैंने कहा।

"नहीं, वह भी तो घड़ी की तरह चलता रहता है। रोज़ दिन वदलते जाते हैं। केवल एक वार सन् ठीक कर दिया, फिर उसी साल में चलता रहता है।"

"आप करती क्या हैं ?"

"मैं सरकारी शोध-विभाग के अतीत-विभाग में हूं। आजकल मुझे विश्राम की छुट्टी मिली हुई है।"

"क्या सारे देश ही इसी तरह भू-गर्भ में रहते हैं ?" मैंने पूछा।

"देश ही कितने रह गये हैं। पुराने ५० साल पहले वैज्ञानिकों ने बताया कि उस साल पृथ्वी खत्म होने वाली है। कहते हैं, प्रायः बड़े राष्ट्र अपनी प्रजा को यानों पर चढ़ा कर दूसरे-दूसरे लोकों में चले गये। रशिया में बोल्शेविक पार्टी, मय रशियन सरकार के, पता नहीं, कौन से लोक में चली गई। हमारी सरकार भी मय अपनी पार्टी वालों के, यहां से चली गयी। हम लोग जो बच गये, कई दिनों तक महा-प्रलय की राह देखते रहे। जब प्रलय नहीं हुआ, तो आगे की सोचने लगे। अब तो पुराने अफ्रीका में झूलू और बन्टू देश हैं। हिन्दुस्तान को खींच कर हम लोग प्रशान्त महासागर में ले गये, जिसमें उत्तर-पूर्वी एशिया की जंगली जातियों के हमले से बचे रहें।"

"क्या इतने बढ़ कर भी आप उन जंगली जातियों का मुकाबला नहीं कर सकते ?"

"ऐसी बात नहीं है। हमारे शहरों में कोई नहीं घुस सकता। किन्तु जो लोग बाहर घूमने निकलते हैं, उन्हें अक्सर तिब्बती दर्रों से आने वाले चीनी जंगली पकड़ ले जाया करते थे—इसलिए उन लोगों से निरापद होने का यही तरीका ठीक समझा।"

हाथ की तरफ़ फिर युवती ने नज़र दौड़ाई और चल पड़ी। हां, आज खुद-ब-खुद कहती गई, "कल आयेंगे न ?"

दूसरे दिन तो मेरा और भी बेहाल था। रात भर करवटें बदलता रहा, कभी-कभी सन्देह होने लगा कि वह सामने ही खड़ी है। नौकर मुझसे भी ज्यादा घबड़ाया हुआ था। आसपास कोई अच्छा डाक्टर भी तो न था। आज किन्तु उसने बड़ी मेहनत से मुझे दूध ज़रूर पिला दिया। कुछ दो-चार कौर पराठा किसी तरह खाया और फिर ज्यों-ज्यों समय ३ के निकट पहुंचने लगा, तो घबराहट एवं उत्कंठा बढ़ने लगी। आज तो मैं ३ से भी आधा घण्टे पहले निकल पड़ा और ५ मिनट में नियत स्थान पर पहुंच गया।

वह आधा घण्टा बड़ी मुश्किल से बीत पाया। शिखा भी समय से आज कुछ पहले आ पहुंची। चेहरा उसका उतरा हुआ था और काफ़ी सुस्त थी।

"क्या आपको कोई तकलीफ़ हो रही है ?" मैंने पूछा।

"हर्षवर्द्धनजी, आप मुझे आप न कहें, शिखा ही कहें, तो ज़्यादा ठीक हो। तकलीफ़ तो पिताजी को है। कल से बड़ी घबराहट है। न मालूम क्या होने वाला है।"

"मुझे भी तुम केवल हर्षवर्द्धन ही कहो। यों मैं भी डाक्टर हूं। किन्तु तुमने

तो अच्छे-अच्छे डाक्टरों को ज़रूर वुलाया होगा।"

"यही तो मुसीवत है। जव से झूलू ने विद्युत-शिखा निकाली तव से हम लोग वैज्ञानिकों पर ही सारी शक्ति लगा रहे हैं। यह झील जो आप देख रहे हैं, इसके नीचे हमारे कारखाने हैं। खाद्य-पदार्थ भी उन कारखानों में ही वनते हैं। ग़नीमत है कि यह विद्युत-शिखा पानी पर असर नहीं करती, इसलिए पानी के नीचे हमारे कारखाने हैं। डाक्टरों की वेहद कमी हो गई कि उन्हें फ़ुरसत ही नहीं।"

"यदि मुझे किसी तरह ले चलो तो मैं सेवा के लिए हाज़िर हूं।"

"तुम्हारा चलना नाममकिन है। पहले तो तुम्हें देखते ही पुलिस हम दोनों को गिरफ्तार कर लेगी। कहीं वच भी गये तो आज-कल की दवा तुम नहीं जानते। पुराने ज़माने की दवा तो वहुत उज्जड ढंग की थी। माफ़ करना, तुम यह भी नहीं जानते कि खून कैसे वनता है।"

इसका क्या जवाव ? वात सही थी। मैं चुप हो गया।

उसने अपना हाथ देखा और चल पड़ी। "पिताजी ठीक रहे तो आऊंगी।"

मैं तो रोज़ की तरह दूसरे दिन झील के किनारे पत्थर पर जा वैठा। वैठे-वैठे अंधेरा हो गया। वह नहीं आई। जव रात हो गई तो विश्रामगृह पर लौटा। तीसरे दिन भी वह नहीं आई और नहीं आई चौथे दिन भी। अव तो मैं निराश हो चला। फिर अव वापस लौटना भी था। विश्रामगृह की मेरी वुकिंग ख़त्म हो चुकी थी। तार देकर श्रीनगर से दो दिन के लिए और इन्तज़ाम किया। अव सोचा कि आज भी वह नहीं आई तो कल तो चलना ही है। ३ वजे, और निकल पड़ा। जाकर पहुंचा ही था कि वह आ पहुंची।

उसकी आंखें लाल और सूजी हुई थीं, मानो वहुत रोयी हो। वेष-भूषा भी विखरी हुई थी। आते ही मेरे वक्ष में मुंह छिपा कर रोने लगी।

"क्यों, पिताजी तो अच्छे हैं न ?"

वह फूट पड़ी। "पिताजी तो चौथे दिन यहां से जाते ही चल..." वस, आगे और शब्द न कह सकी।

मैंने भरसक सांत्वना दी। मैंने कहा, "मैं तो तुम्हारे युग में नहीं चल सकता। तुम क्यों न मेरे साथ आ जाओ। हमारे यहां कोई रोक-टोक नहीं है।"

"यह भी मुश्किल है। पिताजी के कई काम अधूरे पड़े हैं। उन्हें पूरा करना है। फिर यह काल-यन्त्र ठीक करना मुझे आता ही नहीं। हर यात्रा के वाद इसे साफ करना पड़ता है। पिताजी इसे देखते थे। अव शायद ही एक यात्रा से ज़्यादा और कर सकूं। पता नहीं, अव मेरा क्या होगा ?"

मुझे हठात् एक तरकीव याद आई। मैंने कहा, "क्यों न इस यन्त्र को ५ साल पुराने युग पर लगाओ और पिताजी का स्थानान्तरण करवा दो। शोध-विभाग में न जाने दो। आखिर दूसरे सूर्य-गृह में न गये तो क्या हानि है ?"

शिखा के मुख पर मुस्कान आ गयी। कुछ देर वह सोचती रही, फिर उसने कहा, "यह काम बहुत महत्त्व का है, क्योंकि हमारे सूर्य की गर्मी अब ख़त्म होने चली। दूसरे यह सुझाव प्राकृतिक नियमों और सरकारी क़ानूनों के विरुद्ध है। मैं नहीं जानती, आजतक यह नियम किसी ने भंग किया हो। पिताजी भी यह पसन्द करें या नहीं, किन्तु मैं इस लोभ को नहीं रोक सकती। अच्छा, चलती हूं।" कह कर दौड़ी। "सिर्फ पिताजी की आज्ञा हुई तो फिर"...सुन सका।

मैं भी दौड़ा। बड़े पेड़ के पास पहुंचते-पहुंचते वह अदृश्य हो गई।

पेड़ के पास बड़ी सावधानी से मैंने घूम कर देखा, किन्तु कहीं कुछ न दीख पड़ा। मैं हैरान था। जब-जब मित्रों ने शादी की सलाह दी, मैंने यह कहकर टाल दिया कि स्त्रियों की बातों से मैं ऊब जाता हूं, किन्तु इस भविष्य की बाला ने तो मेरी सिट्टी भुला दी।

हठात् बन्दूक की-सी आवाज़ उसी पहाड़ी से आई। मैं चमक कर उधर घूमा। सामने एक बड़ी चट्टान थी। पास जाकर देखा तो चट्टान के पीछे एक गुफा-सी दीख पड़ी। गुफा का द्वार चट्टान से स्वयं इस तरह ढका था कि उसे देखना मुश्किल था।

बिना विचारे ही गुफा के अन्दर दौड़ पड़ा।

सुरंग धुएं से भरी थी। सामने कोई ५० गज पर रोशनी चमक रही थी। मैं उधर दौड़ा। ठीक सुरंग के दरवाज़े पर शिखा बेहोश पड़ी थी। सुरंग से धुआँ बाहर उड़ रहा था।

मैंने शिखा को सहारा देकर बैठा दिया। शिखा एक बार कांपी, फिर उसने आंखें खोलीं। वह चारों तरफ़ देखने लगी, जैसे कुछ याद कर रही हो। फिर उसने मेरी तरफ़ देखा और जरा ज़ोर से बोल उठी "कौन हो तुम ? मुझे यहां क्यों लाये हो ?"

"शिखा ! मैं हर्षवर्द्धन हूं। क्यों क्या हुआ तुम्हें ?"

"कौन हर्षर्द्धन ? मुझे यहां क्यों लाये हो ? बोलो, जवाब दो।" वह ज़ोर से चिल्ला कर पूछ रही थी। हठात् सुरंग से खांसने की आवाज़ आई। शिखा ने जैसे उस खांसी को पहचाना हो, शंकित हो उधर देखने लगी। मैं भी खड़ा हो गया और उधर बढ़ा। शिखा भी खड़ी हो, देखने लगी। धुआं अब प्रायः छंट गया था। सामने ज़मीन पर कोई लहू से लथपथ पड़ा खांस रहा था।

शिखा एका एक चिल्ला उठी, "चाचाजी।"

घायल आदमी हाथ का सहारा ले ज़रा-सा उठा और वापस गिर पड़ा। खांसते-खांसते वह बोल उठा, "बेटी तुम ठीक हो गईं। तुम फिर चंगी हो गईं ?" उसके मुंह पर खुशी दौड़ गई।

उसने मेरी तरफ देखा। "मैं तुम्हारे बारे में शिखा से सब सुन चुका हूं।

वह विक्षिप्त थी। मेरे जाने से पहले कम-से-कम वह स्वस्थ हो गई।" कहते-कहते वह फिर खांसने लगा। "ज़रा हवा में बाहर तो चलो।"

मैंने दोनों हाथों से सहारा दे उसे खड़ा कर दिया और अपने सहारे से धीरे-धीरे सुरंग के बाहर ले जा लिटा दिया। बाहर निकल कर मैंने देखा, तीन तरफ़ से पहाड़ों से घिरा एक छोटा-सा मैदान है और बीच में एक सुन्दर-सा बंगला बना है। एक तरफ़ खुला है, वहां से सड़क है और बंगले के सामने एक मोटर खड़ी है।

"यह बात बहुत अर्से की है" फिर वह मुझसे कहने लगा, "मैं—भवानीसिंह और मेरा साथी सुजानसिंह दोनों साइंस में एलेक्ट्रोनिक की डिग्री लेकर साथ-ही-साथ कालेज से निकले। शुरू से ही हम दोनों को एक्स-रे से बहुत दिलचस्पी थी। अक्सर बहस किया करते कि क्यों न जैसे एक्स-रे शरीर के भीतर पड़ी ठोस चीज़ें देख लेता है वैसे ज़मीन के भीतर के खनिज पदार्थ भी देखे जायें। यों तो ज़मीन में गड़ी धातु का पता लगाने का यन्त्र आता है, पर कितनी गहराई पर धातु, पत्थर और मिट्टी के नीचे गड़ी है, यह भी मालूम होने लगे। हर धातु का एटम पुंज अलग-अलग होता है। हम यह भी जानना चाहते थे कि कौन-सी धातु गड़ी है।"

भवानीसिंह फिर खांसने लगा। ज़रा दम लेकर उसने कहना शुरू किया, "कालेज से निकल कर हम दोनों अलग हो गये। दोनों की ज़मींदारी थी, मकान, जायदाद थी, उसी काम में लग गये। मेरी शादी हो गई और जब शिखा ३ साल की थी तब इसकी मां चल बसी। सुजानसिंह अकेला ही था। उसने आग्रह कर मुझे और शिखा को अपने पास बुला लिया। उस दिन से शिखा उसे ही अपना पिता समझने लगी। मैंने भी भेद आजतक इसे नहीं बताया।"

शिखा बैठी सुन रही थी। हठात् वह फूट पड़ी और भवानीसिंह के नज़दीक सरक गई।

भवानीसिंह शिखा की पीठ पर हाथ रख कहने लगा, "ज़मींदारी सरकार ने खत्म कर दी, कुछ मकानात रह गये, उनका किराया हम दोनों के लिए पर्याप्त था। एक दिन बातों-ही-बातों में अपनी एक याद आ गई। फिर क्या था, खोजने लगे ऐसा स्थान, जहां शांति से बैठकर अन्वेषण कर सकें। यह बंगला तुम देख रहे हो, यह सुजान ने बनाया और एक पूरे पावर का जेनरेटर भी बिजली के लिए यहां बैठाया।"

भवानीसिंह जोर से खांसने लगा। "पानी!" उसने कहा। मैं उसे अपनी दोनों बाहों पर उठाने की चेष्टा करने लगा। भवानीसिंह बुढ़ापे में भी मेरे जैसे शहरी आदमी से कहीं ज्यादा हट्टा-कट्टा था।

"मैं मरते-मरते भी पांच-सात मील का चक्कर लगा सकता हूं, तुम नहीं लगा सकोगे।"

मैं शरमा कर इधर-उधर ताकने लगा। भवानीसिंह मेरे कन्धे पर हाथ रख कर उठ गया और मेरा सहारा ले, धीरे-धीरे बंगले की तरफ चल पड़ा।

दो घूंट पानी पीकर उसने फिर कहना शुरू किया, 'हम लोग कितनी गहराई पर धातु गड़ी है, यह पता तो लगाने लगे, किन्तु अटम फॉरमेशन उसका क्या है, यह भेद अवतव नहीं पा सके। फिर एक दिन अचानक इस पहाड़ पर से फिसल कर सुजानसिंह की मृत्यु हो गई।"

शिखा के मुंह से ज़ोर की चीख़ निकली और वह भवानीसिंह से चिपट गई।

"वेटी, उसी दिन तुम रो लेतीं तो तुम्हें इतना कष्ट न उठाना पड़ता।" और वह शिखा की पीठ सहलाने लगा।

भवानीसिंह ने कुछ रुककर कहना शुरू किया, "शिखा वेटी, वैज्ञानिक उपन्यास बहुत पढ़ती थी। सुजान के जाने का जो धक्का लगा, इसका दिमाग कुछ विक्षिप्त हो गया। कुछ दिन मुझे पूरा भय रहा कि कहीं यह और कुछ न कर ले; किन्तु जव दिमाग को बड़ा सदमा पहुंचता है तो वह स्वप्नों में दुःख को भुलाने की चेष्टा करता है। यही इसके साथ हुआ। पर हां, किसी से होने वाली वातें ज्यों-की-त्यों यह वयान कर देती थी, इसीलिए मैं तुम्हारे वारे में जानता हूं।"

शिखा कुछ शान्त हो चुकी थी। मैंने उसे पीने के लिए पानी ला दिया। दोनों भवानीसिंह की तरफ़ फिर देखने लगे।

"वस, अव मैं जाने ही वाला हूं। इस सुरंग के नीचे शीशे की खान है। आज विस्फोटन के द्वारा रेडियो वेव माप कर यह देखना चाहता था कि पता चलता है या नहीं। चार्ज मिकदार से कुछ वड़ा हो गया और जो धड़ाका हुआ, पत्थरों से मैं घायल हो गया।" फिर उसने शिखा की ओर देख कर पूछा, "क्यों वेटी, तुम्हें और कोई चोट तो नहीं आई।"

शिखा ने सिर हिला दिया। एकाएक भवानीसिंह तड़फड़ाया। उसने शिखा का हाथ मुझे पकड़ा दिया और उसका सिर नीचे लटक गया। □

नये कारबारी

□

सुबह ७ बजे ही गर्मी के दिनों का सूरज इतना गरम हो उठा, मानो पूरी दुपहरिया का हो। गर्मी के त्रास से सिद्धार्थ योंही सुस्त बैठा था, ऊपर से टेलीफ़ोन ने और भी सुस्ती फैला रखी थी। 'ट्रंक काल' मांगे पूरा एक घण्टा हो गया था। 'अर्जेण्ट काल' भी मिलने का कोई ठिकाना न था। लाइन यदि एक घण्टा और न मिली, तो सामने वाला बाहर निकल जायगा और काम सारा धरा रह जायगा।

दरअसल व्यापार एक ऐसी दौड़ है, जिसका अन्त नहीं। कोई सांस लेने को भी ठहरा तो दूसरों से कोसों पिछड़ गया। इसलिए सिद्धार्थ अनवरत संघर्ष में निरत रहता था, पर रह-रह कर उसकी नज़र एक क्षण टेलीफ़ोन पर चली जाती थी।

"टनन् टनन्" घण्टी बजी। सिद्धार्थ चमका। उछल कर कुर्सी के हत्थे पर से हाथ बढ़ा टेलीफ़ोन उठा लिया। उसने फटी-सी आवाज़ में कहा, "हैलो !"

ज़बान से "हैलो" बोल रहा था, पर मस्तिष्क उसका सरपट दौड़ लगा रहा था। बात वह कैसे शुरू करेगा, कौन-कौन से शब्दों में अपना मतलब समझायेगा। कितनी ही बार वह इन बातों को दुहरा गया था, फिर भी एक बार और उन्हीं को दुहराने लगा। पर यह क्या, यकायक उधर से आवाज़ सुनकर तांता टूट गया।

कड़ी भर्राई-सी आवाज़ आई, "अच्छा, सिद्धार्थजी बोल रहे हैं! नमस्कार।"

फिर आवाज़ आई, "क्यों ? पहचाना नहीं ?"

सिद्धार्थ ज़रा असमंजस में पड़ कर आवाज़ याद करने की कोशिश करने लगा।

आवाज़ ने फिर कहा, "अरे भाई, आनन्द को भूल गये ?"

सिद्धार्थ के लिए नाम वैसा ही अजनबी था, जैसा कि शशांकशेखर चटर्जी। पर जल्दी से जवाब दिया, "वाह आनन्दजी, यह खूब रही, मैं न जानूं !"

मगर आवाज़ में ख़ातिरी इतनी न थी। आनन्द ताड़ गया, बोला, "अरे मैं वही आनन्द हूं, हम लोग कॉलेज में साथ ही तो थे। बस, मैं तुमसे एक साल ऊपर था।"

अब भी सिद्धार्थ के मग़ज़ में बात बैठी नहीं, पर बोल उठा "वाह, यह भी मैं

कभी भूल सकता हूं ?"

"मैंने पूरी पढ़ाई नहीं की। मेरा मन तो कल्पना के सुनहरे पंख चिपका कर अनन्त की ओर उड़ानें भरता था और वह कम्बख्त पढ़ाते 'एरिथमेटिक'। मैंने कविताएं लिखनी शुरू कर दीं।"

"हां-हां, मुझे खूब मालूम है, उस दिन ही तो आपके एक काव्य पर आलोचना पढ़ रहा था।" सिद्धार्थ ने तकल्लुफ़ में आकर जवाब दिया।

"अच्छा, किस पत्र में पढ़ी थी वह ?" आनन्द ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"अब ठीक याद नहीं, वह तो एक अर्सा हो गया।"

"आलोचना कब देखी थी आपने ?"

"यही कोई दस साल हुए होंगे।"

"दस साल पहले तो हम लोग कॉलेज में ही थे।" आनन्द ने सन्देह के स्वर में कहा।

"तो कोई छह साल हुए होंगे। बात यह है कि याददाश्त मेरी बहुत कच्ची है।" सिद्धार्थ बोला।

"धन्यवाद। हां भई, चीज़ तो मैं आला ही लिखता हूं।"

सिद्धार्थ को अब ट्रंक काल की याद आई और आते ही जैसे ज़बान पर ब्रेक लग गया। फिर ज़रा सकुचाता-सा बोला, "भाई आनन्दजी, अब मैं क्या कहूं, संकोच होता है, पर मैं दुविधा में हूं।"

"वाह, मित्र से क्या संकोच ! मैं आपकी दुविधा को अभी दूर किये देता हूं। बस, सुनने भर की देर है।"

"बात यह है कि मेरा एक ज़रूरी ट्रंक काल आने ही वाला है। आप नम्बर लिखा दीजिए। मैं फिर बात कर लूंगा।"

ज़रा व्यथित-सी आवाज़ में, पर बहादुरी से जवाब दिया, "अच्छा, मैं फिर लाइन ले लूंगा।"

"नहीं, आप क्यों तकलीफ़ करें; मैं ही लाइन मांग लूंगा।" सिद्धार्थ बोला।

लगा, जैसे अब उधर दुविधा हो गई हो। दबी-सी ज़बान से आनन्द बोला, "यह नम्बर-वम्बर मुझे याद नहीं रहते। फिर, मैं यहां ठहरूंगा भी नहीं।" अचानक हिम्मत से बोल उठा, "मैं ही लाइन मिला लूंगा।"

सिद्धार्थ ने नमस्कार कर लाइन काट दी। सोचने की उसने बहुत कोशिश की, पर यह आनन्द नाम उसे याद ही नहीं आ रहा था। साथ पढ़ने वाले का कुछ रूप तो याद रहता, किन्तु उसके दिमाग़ में कहीं भी कोई तन्तु न हिला। इसी उधेड़-बुन में था कि ट्रंक लाइन मिल गई।

"गोविन्द !" पुकारा उसने "ज़रा जल्दी जाना है मुझे।" अब उसका दिमाग़ फिर बड़ी तेज़ी से चलने लगा, उसे एग्रीमेण्ट सही करना था, और कौन-कौन सा

'क्लाज़' उसे फिर से ठीक करना है, यह सोचने लगा। देखा, सफ़ेद कुरते में चप्पल पटपटाता कोई नया-सा आदमी खड़ा है।

"मैं इधर ही नजदीक़ में था। सोचा, क्यों न खुद ही पहुंच जाऊं।"

सिद्धार्थ कुछ क्षण सोचता रह गया। फिर ज़रा तर्क लगा कर वोला, "अच्छा, आनन्दजी, आइये।"

"क्यों, है न ठीक ?" आनन्द वोला। सिद्धार्थ ने फिर आंखें गड़ा कर देखा, लेकिन कुछ भी तो जाना हुआ न लगा वह।

एक क्षण ठहर कर फिर आनन्द ने शुरू किया, "हां, तो पुराने दोस्तों से जो मिलने का आनन्द होता है, वस...

सिद्धार्थ ने तरह-तरह से वेहद कोशिश की, पर आनन्द की सूरत उसने कभी देखी भी हो, ऐसा याद नहीं आया। कई वार उसके मन में उठा कि वह साफ़ कह दे, "जनाव न तो आप मेरे साथ पढ़े हैं, न मैं आप को जानता हूं।" पर संकोच के मारे चुपचाप सुनता रहा।

आनन्द ने फिर शुरू किया, "हां, तो मैं वस दो साल आपके साथ था। वी० ए० करने के पहले ही मैं इस दिव्य कला की उपासना में लग गया।"

"इधर कव से हैं ?"

"वस, काव्य-चर्चा तो चलती ही रहती है, और यहां सैकड़ों साहित्य-प्रेमी रहते हैं, उन्हीं का प्रेम खींच लाया यहां।"

सिद्धार्थ का मन वारवार अपने एग्रीमेण्ट में भटक रहा था। विदेश के व्यापारी आये हुए थे और उसका पहुंचना ज़रूरी था। उसने धीरे से कहा, "आप से मिलकर वड़ी खुशी हुई। अभी तो आप हैं न ? फिर मिलेंगे।" और खड़ा हो गया।

"ओह, गर्मी की भी कोई हद है ! कष्ट न हो तो ज़रा शर्वत का एक गिलास मंगा दीजिए।"

हैरान हो सिद्धार्थ फिर वैठ गया और नौकर को पुकार कर शर्वत लाने का हुक्म दिया।

"यह निदाघ वड़ा भीषण होता है। मैंने अपने 'ज्येष्ठ' काव्य में लिखा है :

किरणें, वे तीखी किरणें,
लख नव किरणों की एक झलक,
कलियों ने खोली सर्द पलक,

ज़रा ध्यान से सुनिये—'सर्द पलक'

खुलते ही उनको तप्त किया,
रे ! ग्रीष्म-दाह ने दग्ध किया।"

सिद्धार्थ ने फिर घड़ी देखी। "हमारे देश का क्या भाग्य है कि ऐसे-ऐसे लोग

भी काव्यतीर्थ बन जाते हैं।" उसने सोचा।

आनन्द शर्बत घूंट-घूंट पीने लगा। सिद्धार्थ ने घड़ी की तरफ़ देखा। "सच्च बात तो यह है कि मुझसे आनन्द की जान-पहचान क़तई कभी की न थी।" उसने फिर सोचा, जब शर्बत का गिलास ख़त्म हो गया, तो सिद्धार्थ उठ खड़ा हुआ।

"आपसे ज़रा मामूली-सा काम था। बात यह है कि इस सेवा की दृष्टि से मैं तो उच्च आदर्श पर स्कूल..." आनन्द ने शुरू ही किया था।

"हां, फिर टेलीफ़ोन कीजियेगा—ज़रा फ़ुर्सत से।" सिद्धार्थ ने कमरे के दरवाज़े पर खड़े-खड़े कहा।

"अच्छा, ज़रा एक टेलीफोन यहां से करता जाऊं।" आनन्द ने टेलीफ़ोन के पास बैठते हुए कहा। सिद्धार्थ सिर हिलाकर सहमति जताते हुए चल दिया।

शाम को सिद्धार्थ जब लौटा, टेलीफ़ोन टनटना रहा था। मोहन बाबू ने कहा, "आज तो सारे दिन आपके ही काम में था, लगभग हो गया।"

"मेरा काम ?" सिद्धार्थ ने पूछा।

"आप के वह पुराने मित्र आनन्दजी का आपके यहां से ही तो आज सुबह टेलीफ़ोन आया था। आपने जो एक हज़ार रुपये देकर उदारता दिखाई, अब बारह हज़ार तो हो गया। बस, अब दो हज़ार बाकी है। आनन्दजी अभी मेरे ही..."

सिद्धार्थ ने झल्लाकर फ़ोन रख दिया। उसने कहां क्या दिया, उसे अपने ही ऊपर सन्देह हो रहा था। □

नयी पढ़ाई



गड़रिये रास्ते के किनारे की ओर ज़ोर से दौड़े कि वह मोटर के निकलने के पहले ही वहां पहुंच जायं। एक जो पहले से ही रास्ते पर था, सांड़णी[1] को एक तरफ़ हटाने लगा। सांड़णी दौड़ पड़ी, रवि मोटर की चाल धीमी कर पीछे चलने लगा। सांड़णी थोड़ी दूर तो रास्ते पर चली, फिर रास्ता छोड़ एक तरफ़ को हो ली। रवि ने फिर गाड़ी की चाल तेज़ की। वीणा ने नाक से रूमाल हटाकर एक लम्बी सांस ली और कहा :

"कहां ले आये मुझे। इससे अच्छा तो छुट्टी ही न लेते।"

रवि २५ साल का हँसमुख बेफ़िक्र नवयुवक था। पतली बुशशर्ट और मटमैली पैंट, कटे बाल; कहीं विदेश गया हुआ-सा युवक मालूम पड़ता था।

"राजस्थान का मज़ा कुछ और ही है। इस धूलि की भी खूबी है।" उसने जवाब दिया।

थोड़े ही चले होंगे कि रवि ने ब्रेक लगाया, मोटर खड़ी हो गई। सामने सड़क के किनारे दोनों हाथों से लाठी पकड़ उस पर ठोड़ी टेक एक लड़की खड़ी थी। घाघरी उसने गोड़े तक उठाकर टांग ली थी।

"क्यों, फिर क्या हुआ।"

"देखो, सामने देखो।" रवि बोला।

"क्या इस जंगली लड़की को ?"

"यह है प्रकृति, अप्रदर्शित, शान्त, भव्य।"

रवि कैमरा उठा मोटर का दरवाज़ा खुला छोड़ लड़की की तरफ़ बढ़ा। वीणा भी मोटर में बैठे शायद थक गई थी। पैर फैलाने के लिए वह भी मोटर से निकल पड़ी। लड़की के पीछे भेड़ें चल रही थीं। वर्षा का मौसम था, चारों तरफ हरियाली थी। कुछ दूर पर दो-चार लड़के भी बैठे थे। जब मोटर रुकी तो उत्सुक हो वे भी आगे दौड़ आये। लड़की ने पहले लड़कों की तरफ़ देखा, फिर रवि, वीणा को और वह भी उत्सुकता से भर उठी। उसके चेहरे का भाव

१. मादा ऊंट को राजस्थान में साडणी कहते हैं।

बदल गया, साथ-ही-साथ उसने लाठी उठा कंधे पर रखी और एक लड़के के पास जा खड़ी हुई। उसने लम्बी सांस ली, मानो लड़के के पास जा उसने इतनी हठात् होने वाली क्रिया से छुटकारा पा लिया हो।

रवि ने वीणा की तरफ़ देखा। उसका कैमरा हाथ में ही रहा, पर उसकी और सारी सक्रियता ग़ायब हो गई। "खो गया वह दृश्य।" हताश वह बोला।

"पता नहीं, क्या था, क्या खो गया।" वीणा ने मुंह विचकाकर कहा, "आधा दिन तो हो गया, अब शायद रात भी किसी गांव में ही काटोगे।"

दोनों वापस आ बैठे और मोटर आगे चली। कोई सौ क़दम मोटर बढ़ी होगी कि उस लड़की की पुकार सुनाई दी।

"बाबूजी, बाबूजी, यो पड़गो।"

रवि ने फिर मोटर रोकी। वीणा ने पीछे मुंह फेर कर देखा तो उबल पड़ी, "अरे मेरा बैग···" पर आगे और शब्द नहीं निकले। वह लड़की दौड़ती हुई हाथ में बैग ले आ खड़ी हुई।

उसने रवि की तरफ़ देखते हुए हाथ बढ़ा, बैग वीणा को दे दिया।

वीणा कुछ कहे कि उसके पहले रवि ने इशारा करके कहा, "लड़की इधर आ।" लड़के भी दौड़कर आ पहुंचे। रवि कहता ही रहा, पर लड़की दूर हट लड़कों के पास जा खड़ी हुई। रवि ने एक रुपये का नोट निकाल, उसे दिखा, फिर इशारा किया। पर लड़की वहां से वापस दौड़ अपनी भेड़ों से जा मिली।

"यह हैं राजस्थान के गांव।" रवि ने वीणा से कहा और मोटर चलाई। पास खड़े लड़के ज़ोर से हँस पड़े। वीणा ने बैग खोला। उसके रुपये और दो-चार ज़ेवर सब पूरे थे। अबकी बैग उसने किनारे न रख बीच में रख लिया।

जहां रवि छोटा-सा गांव देखता, वहीं मोटर रोक देता। औरतों की रंग-बिरंगी ओढ़नियां और दूर खड़े मर्दों के रंगीन साफे देख बीच-बीच में वह तस्वीरें उतार लेता। कहीं-कहीं रास्ते पर ऊंटों पर भी लोग मिलते। या तो जाने वाले ऊंट को रास्ते से दूर ले जा खड़ा करते, या कोई नीचे उतर ऊंट की नकेल पकड़ खड़ा हो जाता।

दोपहर बाद वे लोग अपने ठिकाने के पास पहुंचे। रास्ते की धूल उनकी आंख, कान, बालों पर और नाखूनों के अन्दर अच्छी तरह जम गई थी। वीणा ने तो कहा, उसके मुंह में भी किरकिराहट हो गई है। गाड़ी का इंजन तो धूल से भर गया था। दरवाज़े के नीचे से निकल-निकल कर सीट पर भी धूल की एक तह जम गई थी।

वीणा शहरी थी और रवि, जन्मा तो था गांव में, पर दस वर्ष की उम्र में पढ़ने शहर चला गया। कॉलेज पूरा करके वह अमरीका इंजीनियरिंग पढ़ने गया। उसके पिता नामी व्यापारी थे। उनके कारखाने भी थे और वह चाहते थे कि

उनका लड़का कारख़ाने दक्षता से संभाले। वापस लौटकर जो काम में जुटा तो उसको दो साल फ़ुरसत ही नहीं मिली। इस बार उसने अवकाश ले अपना पुराना गांव देखने की ठानी।

जिस गांव का चाव करके रवि आया था वह दूर से काफ़ी बड़ा दीख रहा था। बाहर किसी ज़माने का बना बड़ा फाटक जीर्ण पहले ही था, अब रवि के जाने के बाद इस अरसे में वह पूरा ढह गया था। गांव के किनारे से ही उन्होंने देखा, रास्तों में कीचड़-ही-कीचड़ भरा है। पनालों से निकल-निकलकर पानी रास्तों पर फैला था। औरतें घाघरी-ओढ़ने के बजाय साड़ियों में घूम रही थीं। मर्दों के सिर पर साफे के बदले खद्दर की टोपी थी या कुछ सिर खाली भी थे।

बात यह थी कि ४००० की बस्ती का रवि का पुराना गांव अब २५००० आबादी का शहर बन गया था। लोगों में शहरी बू आ गई थी। पहले रवि की पारिवारिक नाई आकर १५ दिन में रवि के बाल काट देता था। अब उसने देखा, बाज़ार में नाइयों ने भी सैलून खोल रखे थे।

"अपने घर होते चलें या चाचाजी के यहां चलें ?" रवि ने पूछा।

"घर पता नहीं, रहने लायक भी होगा ! तुम्हारा बूढ़ा नौकर ही तो अकेला रहता है। फिर मुझे तो भूख भी लगी है।" वीणा ने कहा।

गलियों को पार करते वे गांव के दूसरे तरफ़ चले। कहीं-कहीं दुकान वालों ने सामने चबूतरे बनाकर रास्ता इतना तंग कर दिया था कि मुश्किल से रवि ने मोटर निकाली। बड़े ग़ौर से वह देखता चल रहा था, पर पहचानी चीज़ उसे भी नहीं दीख रही थी। ये गलियां, जिनमें वह बिना जूते दौड़ा करता था, अब कीचड़ से ऐसी भरी थीं कि इनमें से जूते पहनकर भी कठिनाई से निकला जाता। आखिर दो-एक जगह पूछकर वह ठिकाने पर पहुंचा और फाटक के सामने मोटर खड़ी कर दी।

वीणा ने बैग खोल रूमाल निकाला और अच्छी तरह मुंह पोंछ लिया। गली में कुछ लड़के खेल रहे थे। वे पास आ मोटर की खिड़की से सटकर खड़े हो गये। एक-आध तो सामने झुककर यह भी देखने लगा कि भीतर क्या-क्या चीज़ें रखी हैं। दो-चार उधर से जाने वाले राही भी खड़े हो नवागन्तुकों को कौतूहल से देखने लगे।

रवि और वीणा अपना सारा सामान वहीं मोटर में छोड़ घर के भीतर चले गये। आध घण्टे बाद जब बाहर लौटे तो रवि का चेहरा कुछ गिरा हुआ-सा था। जिस गांव की खोज करते-करते वह आया, वह शहर था। गली से लड़के अब चले गये थे, पर सामने के घर के गोखे पर एक बूढ़ा बैठा था। उसके सिर पर मोतिया रंग की पगड़ी थी और वह घूर-घूर कर रवि की ओर देख रहा था।

वीणाने मोटर का दरवाज़ा खोला और सीट पर जा बैठी। बैठकर उसने बैग अपने रखे हुए स्थान की तरफ़ हाथ बढ़ाया कि उसे उठा ले। पर हाथ उसका

सीट पर गिरा। उसने पिछली सीट पर निगाह दौड़ाई कि शायद बैग वहीं छोड़ दिया हो, किन्तु वहां की सीट भी खाली थी।

"मेरा बैग क्या भीतर ले गये थे ?" उसने पूछा।

"नहीं, यहीं तो छोड़कर गये थे।"

"यहां तो नहीं दीखता, घर में छोड़ आये हो?" वीणा ने आशा के स्वर में कहा।

"घर में कोई सामान नहीं ले गये।" रवि ने भी मोटर में एक निगाह डालते हुए कहा। कुछ रुककर उसने फिर पूछा, "तुम्हारे हाथ में था क्या ?"

"नहीं, मैं तो सीट पर ही रख गई थी।" अब भी वीणा ने आशा नहीं छोड़ी। "तुमने पीछे की पेटी में तो कुछ नहीं रखा ?"

"दिल्ली छोड़ने के बाद मैंने पेटी खोली ही नहीं।" पर फिर भी रवि कार से चाभी निकाल पीछे की पेटी खोलकर देखने लगा। "यहाँ तो बैग नहीं है।" अब उसकी आवाज़ में कम्पन था।

"कहां गया फिर ?" वीणा की आवाज़ में अब पूरी घबराहट थी।

बूढ़ा गोखे पर से उठा और पास आ खड़ा हुआ। पहले रवि ने उसे कौतूहल से देखा फिर पूछने के लिए जैसे ही मुंह खोलना चाहा कि बूढ़े ने ही प्रश्न कर दिया, "तुम बद्रीदास के लड़के हो ?"

रवि एक मिनट देखता रहा, फिर सिर हिलाकर "हां" कह दिया।

"कैसा है बद्री ? ओह, बड़ा शोख था वह ! पर कबड्डी में तो मैं उसे हमेशा पकड़ लेता था।"

बूढ़े को देख रवि को अन्दाज़ न होता था कि कभी वह भी कबड्डी खेलने लायक रहा हो। पर हां, उसका शरीर गवाही देता था कि वह किसी वक्त हट्टा-कट्टा था। रवि अपने बारे में सोचने लगा कि बूढ़ा होकर उसमें इस बूढ़े जैसी ताक़त रहेगी भी या नहीं।

सामने दूसरे घर में से एक बुढ़िया निकली, उसके हाथ में था वीणा का बैग। रवि उसकी तरफ़ हतबुद्धि-सा देखने लगा। बुढ़िया घाघरी तो नहीं पहने थी, पर साड़ी के ऊपर ओढ़नी अवश्य डाल रखी थी। बैग रवि को देते हुए बोली, "भैया, लो, सम्हाल लो, तुम्हारा सब सामान सब ठीक है न। मेरे पड़ोसी का लड़का चन्दन अंग्रेजी पढ़ता है न। हँसी के लिए बैग निकाल ले गया। ऐसी भी कोई हँसी होती है ! उसकी मां इसे खोलकर देख रही थी बोली, उसने दिल्ली की दुकान में भी ऐसा बैग देखा था। भला-बुरा कहकर तुम्हारा बैग लाई हूं। क्या किसी परदेशी का सामान भी खोलकर देखा जाता है !"

रवि ने बैग लेकर वीणा की तरफ़ देखा, जैसे वीणा के मन में भी वही प्रश्न उठा हो। चन्दन की हँसी थी या नई पढ़ाई। उसकी मां भी शायद नई सभ्यता मानने वाली हो। □

मुलाक़ात

□

चन्द्रकिशोर ने पूरा साल सुवह से शाम तक काम करके विताया। सिवा काम के जैसे दुनिया में उसके लिए और कुछ भी न था। उसकी मां कभी-कभी मुंह ओझल करके दो-चार आंसू वहा देती थी। मां की क्या इच्छा थी, इसका भी उसे पता न था, किन्तु अवतक रीता की दुःखद मृत्यु को वह भुला नहीं पाया।

"मैं सोच रही थी कि अपने पीछे क्या केवल यह निराशा ही छोड़ जाएंगी," उसकी मां ने एक दिन कहा। "हो सकता है कि वुढ़ापे के मारे निराशा ही नज़र आती हो; पर इस तरह अव मुझे जीने में रखा ही क्या है ?"

"अच्छा मां, अव छोड़ यह निराशा, इसे अव दूर करके ही छोड़ूंगा।" चन्द्रकिशोर ने जवाव दिया।

"विषाद का आवेग वहीं तक उचित है, जहां तक कि वह रास्ता नहीं भुलाता। विषाद में खो जाना तो कर्तव्य त्यागना है।" उसने सोचा।

पूजा की छुट्टियां आईं। पहाड़ पर उसका एक सेब का वगीचा था। वहीं जाने का उसने तय कर लिया। मित्रों ने मना किया, उत्साह दिखाना तो दूर, पर चन्द्रकिशोर कहां किससे सलाह लेने गया था। सामान जव गाड़ी पर रखकर मां को हँसाने के लिए एक चुटकुला सुनाकर वह चल दिया।

वस; वह और उसका नौकर। खाना भी वही बना देता था।

वगीचे का वह छोटा-सा वंगला तो रीता गई तव से वन्द पड़ा था। किसी ने उसे खोलकर भी नहीं देखा। रीता की शाल वहीं खूंटी पर वैसे ही लटक रही थी। शीशा-मेज़ पर पांच-सात चूड़ियां अव भी पड़ी थीं। उस दिन गुसलखाने में नहाने के वाद वह गमछा और वह साड़ी, पानी सूख कर वैसे ही पड़े थे। रीता की एक चप्पल टेढ़ी गिरी थी, वह भी वैसी ही पड़ी थी। पहला काम था सारी चीज़ों को व्यवस्थापूर्वक रखना और वंगले की सफ़ाई कराना। धन्नू ने दिन भर वड़ी मेहनत से यह काम पूरा किया।

वंगला तीन तरफ़ से पेड़ों से घिरा था। सामने छोटा-सा मैदान और दूर पर चमचमाते वर्फ़ के ऊंचे-ऊंचे पहाड़।

रात को चन्द्रकिशोर और रीता सामने कांच लगे बरामदे में बैठे चांदनी में चमकती बरफ़ पहाड़ों पर देखा करते। जबतक नींद न आती, उस जगमगाती शोभा को एकटक निरखते। दोनों अपने हाथ आगे बढ़ा कर उंगलियां आपस में गूंथ लेते और उस स्वर्गीय दृश्य में विलीन हो जाते, मानो उस ब्रह्माण्ड में चलने वाले गायन और उसका साथ देने वाली पृथ्वी की तान में मग्न हों।

रात को खाना खा चन्द्र उसी कुर्सी पर जा बैठा। चांद कभी-कभी बादलों की ओट में छिप जाता। आसमान पूरा खुला न था, फिर भी उस धुंधली रोशनी में बरफ़ ज़ोर से चमकती थी। आंख बन्द कर वह वहीं बैठ गया। आभास होने लगा जैसे रीता के साथ बैठा वह हिमचूड़ी देख रहा हो। महसूस हुआ, जैसे उसका हाथ भी रीता के हाथ पर रखा हो। कभी-कभी कुछ गुनगुनाहट-सी सुनाई पड़ने लगी, शायद रीता गाती हो :

"मैं तो प्रेम दिवानी रे, मेरा दरद न जाने कोय।"

यह स्वप्न नहीं था, क्योंकि यह तो पूर्ण चेतन अवस्था थी। पता नहीं, कब-तक वह बैठा रहा। हठात् धन्नू ने पुकारा, "बाबू, दूध ले आऊं ?"

बचपन से धन्नू ही उसका काम करता आ रहा था। वह एक तरह से नौकर नहीं, उसे चलाने वाला मानो गड़रिया बन गया था। सुबह अपने आप चाय पिला देता, फिर खाना खिला आफ़िस के लिए विदा कर देता और शाम को लौटने पर बिना कुछ खिलाये न मानता। रात को खाने के बाद सोते वक्त दूध पिला देता। चन्द्र की मां भी धन्नू पर सारा भार छोड़कर निश्चिन्त थी। उसने धन्नू को झिड़ककर कभी कुछ कहा हो, ऐसा याद नहीं। किन्तु आज का धन्नू का यह पुकारना उसे बहुत खटका। जैसे किसी ने सुखद स्वर्ग में विचरते को उठा कर धरातल पर फेंक दिया हो। झिड़क कर कुछ कह ही रहा था कि एकाएक होश आया। "धन्नू तुम जाओ, हम आज दूध नहीं लेंगे।"

"यह कैसे चलेगा ? दिन भर की यह मेहनत और पहाड़ की यह हवा।"

धन्नू न माना, दूध पिला गया। किन्तु एक बार जो मुद्रा भंग हुई तो दोबारा न जुड़ी। वहीं कुर्सी पर बैठे उसे नींद आ गई।

सुबह की किरणें मुंह पर पड़ीं, तभी आंखें खुलीं। तैयार हो बगीचे में घूमने निकल गया। याद हो आया, इसी सप्तमी के दिन रीता के साथ वह घूम रहा था, उसी तरह सेब के दरख्त फलों से लदे पड़े थे। पास में घूमकर वे दोनों एक बड़े पेड़ के नीचे पत्थर पर जा बैठे थे। ऊपर से एक सेब टूट कर पड़ा। आधा-आधा दोनों ने खाया। उस पेड़ पर सेब का आकार छुरी से काट कर चन्द्र का "च" रीता का "री" दोनों तरफ़ बना दिया था। वह निशान अब भी बने थे। पेड़ भी सेबों से लदा था। उसी चट्टान पर पेड़ के नीचे वह जा बैठा।

दिन में दोनों नैनीताल गये थे। नैनी झील का स्वच्छ नीला पानी मीठी

हवा के झोंके लेकर वादलों को नचा रहा था। दोनों जा वैठे एक नाव पर और चन्द्र खेने लगा।

एकाएक रीता उछल पड़ी, वोली, "वायां डांड छोड़िए, मुझे भी खेना है।"

"ज़रा शान्त खड़ी रहो, मैं एक तरफ़ हो जाता हूं।"

किन्तु चन्द्र तो हटने की ही चेष्टा में था और रीता नन्ही मृगी की तरह फुदककर डांड पर जा चढ़ी। कुछ हवा का झोंका लगा और कुछ रीता का, नाव टेढ़ी हो गई। रीता छपाक से पानी में गिर पड़ी। चन्द्र ने हाथ खींचकर निकाला और अपने कोट से ढांक दिया।

दोनों जव मोटर में जा वैठे तो चन्द्र को ज़ोर की हँसी सताने लगी। वह हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। वोला, "वाह, आज तो तुमने, क्या वताऊं, क्या किया?"

"क्या किया मैंने?"

"आज हम दोनों को वना दिया तुमने। मुझे कभी-कभी वचपन वहुत याद आता है। आज वह तीव्र कामना कुछ देर के लिए पूरी हो गई।"

"आपकी तुलना आप ही समझते हैं। शायद गीता की छूत लग गई।" किन्तु उसकी आंखों से खुशी की झलक झांक रही थी।

अष्टमी को पहले वही सोकर उठा था। देखा, सूर्य खूव चमक रहा है। उसने रीता की तरफ़ प्यार से देखा और उस सुन्दर चित्र को फिर देखने के आनन्द में आंखें वन्द कर दोवारा फिर खोलीं। रीता वैसे ही सोई थी और उसके मुंह पर संतोष की हँसी थी। चन्द्र ने उसे थोड़ा-सा झकझोर दिया। वह "ऊंह" करके फिर सो गई। चन्द्र अकेला ही घूमने निकल गया। वापस लौटा तो रीता मोटर पर जाने को तैयार खड़ी थी। पास ही कुछ फ़ासले पर गीता और उसके पिताजी ठहरे थे। उनका वाग चन्द्रकिशोर से वड़ा था। खास उनकी आमदनी का साधन यही बाग था।

रीता और गीता दोनों सहेलियां थीं। दोनों कालेज में एक साथ थीं। कालेज के बाद भी कहीं जातीं तो एक साथ ही दोनों जाती थीं। उनके घराने में चन्द्र का यों तो पुराना सम्वन्ध था, मगर रीता से उसका गठवन्धन कराया 'नींद' ने।

एक दिन लखनऊ के एक वहुत वड़े नेता के सम्मानार्थ एक सभा आयोजित की गई। चन्द्र भी वहां जा पहुंचा और तीन-चार ख़ाली कुर्सियां देख कर वैठ गया। किन्तु भाषण इतने नीरस थे कि ऊवकर झपकी लेने लगा। तालियों की गड़गड़ाहट हुई तो आंखें खुलीं। देखा, वगल की कुर्सियों पर रीता और गीता वैठीं, एकटक उसे देख रही हैं।

"अच्छा, तो आप लोग भी आई हैं?"

उसकी आवाज़ सुनकर दोनों सहम गईं। वोलीं "माफ़ कीजिए, अपने आप

नज़र इधर हो गई थी।"

"तो मुझे घूर रही थीं ?"

"आराम से सोते देख अनजाने ही इधर हम देखने लगीं।"

"क्या सोना भी कोई दिलचस्प माजरा है ?"

"पता नहीं क्यों, चेहरे का अरक्षित और निश्चिन्त स्वतन्त्र भाव देखकर मज़ा आता है।" गीता ने कहा।

"आपको अरक्षित, निश्चिन्त स्वतन्त्र विचरण पसन्द है ?"

"स्वतन्त्र विचरण तो सभी को पसन्द है, पर कभी-कभी किसी सोते व्यक्ति के चेहरे पर जो निश्छल भोलेपन का भाव रहता है, मन होता है, वह बराबर ही क्यों न वैसा ही बना रहे ?"

उनकी बातों से तंग आकर आसपास वाले घूरने लगे और यह प्रसंग वहीं-का-वहीं रहा। दूसरे दिन गीता के यहां चाय का निमन्त्रण मिला।

चन्द्रकिशोर पहुंचा तो बड़ी दर्द-भरी सुरीली आवाज़ में कोई गा रहा था, "मैं तो प्रेम दिवानी रे।" रीता और गीता दोनों कमरे से निकलीं। चन्द्र समझा, शायद रीता गा रही थी। बोला, "कितना मधुर गीत था, मैंने नाहक ही ख़लल डाल दिया।"

"मुझे यह बहुत प्रिय है," रीता ने कहा। गीता तो साथ रहती थी, पर वाचाल थी रीता। रीता के काले बाल हवा में उड़ते रहते और उसकी आंखों में एक शोखी-सी चमक रही थी। गीता की बातों में ज़रा दूसरा रंग था और चकाचौंध करने वाली गहराई रहती थी; किन्तु रीता एक खुशी का खिला फूल थी। धीरे-धीरे मेलजोल बढ़ने लगा।

एक दिन चन्द्र ने मां से सिफ़ारिश करवाई और रीता के पिताजी ने सम्बन्ध मंजूर कर लिया। चन्द्र और रीता विवाह-बंधन में बंध गए।

बगीचे में दोनों को पहुंचे दो-तीन दिन ही हुए थे, पर एक-दूसरे में इतने लीन हो गए कि और कुछ विचारने की फ़ुर्सत ही नहीं थी। तीसरे दिन रीता ने कहा, "गीता भी तो यहीं है, मैं तो भूल ही गई थी, उससे मिलना है।"

"पूर्ण सुख चाहे न हो, किन्तु आनन्द दुनिया को तो एक बार भुला ही देता है।"

"मैं तो इतनी बातें सोचती भी नहीं। जितने दिन आनन्द से कटें, उतना सुख तो ईश्वर ने दे ही दिया है।" रीता बोली।

हां, तो रीता को गए काफी देर हो गई। वह न लौटी तो चन्द्र ने सुरेश बाबू के यहां टेलीफ़ोन मिलाया। पता चला, रीता यहां से कब की निकल चुकी थी। उसे समझ न पड़ा कि रीता कहां गई होगी। सूरज सिर पर चढ़ आया, बर्फ़ की चकाचौंध हो रही थी। ज्यों-ज्यों समय निकलता गया, उत्कंठा बढ़ती ही गई।

क़रीब बारह बजे होंगे कि सुरेश बाबू की मोटर बंगले के सामने आ खड़ी हुई। उनका मुंह देखो तो उस पर मुर्दनी-सी छाई थी। बड़ी मुश्किल से उन्होंने चन्द्र की पीठ पर हाथ रखा और धीरे से कुछ बोलने की चेष्टा की। वह अनिष्ट भावना से कुछ डर गया। समझा नहीं, क्या ऐसी बात हो गई। सुरेश बाबू अपनी मोटर के पास ले गए। पीछे का दरवाज़ा खोला तो चन्द्र सन्न रह गया। रीता की लाश सीट पर पड़ी थी। वापस लौटते दुर्घटना हो गई थी। मोटर नीचे खड्ड में पड़ी, शायद रीता के हाथ से दरवाज़ा खुल गया था। वह निकलकर एक पेड़ के पास खड़ी रह गई, नहीं तो मोटर के साथ-साथ लाश के भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते।

उसे सारी बीती ऐसे याद आई जैसे आज ही वह घटना घटी हो। रीता की लाश, उसके चेहरे का वही सदा का भाव, सब याद हो आया। बैठे-बैठे इन्हीं विचारों में मालूम पड़ा, जैसे कोई पास खड़ा हो। वह चुप बैठा रहा कि कहीं जाने वाला वापस न चला जाय। पता नहीं, कबतक बैठा रहा, किन्तु कोई भी न आया। धन्नू ने खबर दी कि खाना कब से तैयार है। वह उठा।

दूसरे दिन अष्टमी थी। वही दिन, जिस दिन रीता गई थी। रोज़ से कुछ जल्दी ही चन्द्र निकल पड़ा और चलकर उस पेड़ के नीचे जा पहुंचा। पत्थर पर जैसे ही बैठने लगा तो देखता-का-देखता ही रह गया। किसी ने मिट्टी के ढेले से वहां लिख दिया था :

"गगन मंडल पै सेज पिया की किस विध मिलना होय।"

चन्द्र को अब पूर्ण विश्वास हो गया कि वह रीता की आत्मा का सन्देश था और वह यहीं रहती है और लगा सोचने, इसलिए तो मुझे उसका आभास होता है और यह गीत तो उसे बेहद पसन्द था। कुछ समझ नहीं पड़ रहा। मन चाहता है कि विश्वास करे, पर बुद्धि साथ नहीं दे रही। इसी उधेड़-बुन में दिन बीता।

धन्नू ने खाना भी ज़बरन खिलाया, "बाबू, यहां आकर तो तुमने खाना-पीना बन्द ही कर दिया। चलो, मां के पास ही रहना अच्छा था।"

धन्नू को खुश करने को, बिना मन भी, उसने डटकर खाया। सांझ होते ही फिर वहीं बर्फ के सामने जा बैठा। पर उस दिन कोई नहीं आया। न जाने कबतक बैठा रहा, पर कुछ हुआ नहीं।

दूसरे दिन सुबह-सुबह निकला तो आगे की ये पंक्तियां लिखी पड़ी थीं :

"दरद की मारी बन-बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोय।"

लिखावट एकदम ताज़ा मालूम दी। इधर-उधर नज़र घुमाई तो एक ढेला भी वहीं पास ही पड़ा था। शायद इसी से किसी ने लिखा हो। "यह कौन है लिखने वाला?" कुछ न समझ सका। इधर-उधर कोई दीख भी न पड़ा। कुछ देख ही रहा था कि नीचे पगडंडी से गुनगुनाहट आई :

"मीरा की प्रभु पीर मिटेगी, जब वैद संवलिया होय।"

सुनते ही उस तरफ़ दौड़ा। सीधा उतराई पर फिसलता-सा उधर उतर पड़ा। आतुरता वढ़ रही थी। पेड़ों के बीच से रास्ता काटता जा पहुंचा। दौड़ से दम फूल रहा था। उधर से गीता गुनगुनाती जा रही थी। भौंचक्का-सा मुंह खोलकर वह खड़ा रहा। यह दर्दीली आवाज़ गीता की थी और वही जगह-जगह पंक्तियां लिखती फिरती थी।

"अच्छा, आज तो आप वड़ी जल्दी निकल पड़े।" उसने चन्द्र के चेहरे की तरफ़ देखा। गीता की काली चमकीली आंखों से गहरी समवेदना प्रकट हो रही थी।

चन्द्र तो मौन, खोया-सा, खड़ा रह गया। उसका चेहरा फीका पड़ गया, मानो उसके पांवों में शक्ति ख़त्म हो गई हो। वह हठात् गिर पड़ा।

"प्यार के पीछे-पीछे दुःख तो रहता ही है। वह तो अव पर्दे के उस पार हैं। उसकी खोज में पागल रहना तो अव दुनिया से मुंह छिपाना है। वहां की वात कोई जानता ही कहां है?" वह पड़ते-पड़ते सोचने लगा।

गीता घवड़ा गई। चन्द्र की तो ज़वान वन्द थी। चेहरे का रंग भी वदल गया था। उसने चन्द्र का सिर अपनी गोद में रख धीरे-धीरे अंगुलियों से उसे सहलाना आरम्भ किया। कुछ समय वाद चन्द्र के मुंह पर रंग लौटने लगा।

"आपको शायद रीता की याद सता रही है। आपके मन में क्या वीतती है, यह मैं समझ सकती हूं।" वह वोली, "किन्तु रीता की आत्मा तो वड़ी आत्मा में जा मिली। अव उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रह गया। अव उसकी याद में इतना डूवना दुनिया में नहीं निभता।"

चन्द्र ने क्या जवाव दिया, उसे खुद पता नहीं। वह सोचने लगा। "सच तो यह है, प्रकृति नित नई वस्तु पैदा करती है। उसके भौतिक शरीर से पता नहीं, क्या वना हो। वह भी वदलकर एक नई वस्तु वन चुकी।"

"पर मुझे तो उसकी निकटता मालूम पड़ती है।" उसके मुंह से अपने आप निकल पड़ा।

"यह आपकी स्वयं की आत्मा का आभास है। शान्त चिन्तन में ही तो मनुष्य आत्मा के निकट होता है।"

कैसे क्या चक्कर चला, अव उसे कुछ याद नहीं रहा। सिर्फ़ इतना ही याद है कि वह वापस अपनी मां के पास लौटा तो वहू गीता ने भी प्रणाम किया। मां गद्‌गद् होकर रोने लगी। □

"नेफा चौकी"



लिंग चांग चारों सिपाहियों से घिरी धीरे-धीरे चल रही थी। पांव तो उसके सीधे रास्ते पर चलते थे, किन्तु आंखें उसकी चारों तरफ़ जैसे कुछ खोज रही थीं। कोने पर हिन्दुस्तानी पोस्ट उसने देखा और वह कुछ ठिठकी। सिपाही भी वहीं रुक गए और उसी तरफ़ ताकने लगे। यकायक लिंग चांग दौड़ पड़ी। चीनी सिपाही कुछ क्षण तो भौंचक्के-से रहे, फिर अपनी बन्दूकें उठा उसके पीछे वे भी दौड़े। लिंग हिन्दी पोस्ट के पास जाकर गिर पड़ी और साथ ही चीनी सिपाहियों की बन्दूकों से गोलियां उसके सिर पर से सन्न करके निकल गईं। हिन्दी सिपाहियों ने अपने हथियार सम्भाले; किन्तु इसके पहले ही कि वह कुछ करें, चीनी सिपाही मुड़कर पेड़ों की ओट में ओझल हो गए।

हिन्दी जवान कुछ देर दुश्मन की राह देखते रहे, पर चीनी वापस न आये।

"दोगले कहीं के ! भाग गए।" एक ने कहा।

उनमें से एक, जो अफ़सर था, सर्तकता से आगे बढ़कर लिंग को देखने लगा। "यह तो कोई लड़की है।" हिन्दी में उसने कहा।

"आपकी मेहरवानी चाहिए", लिंग ने हल्की आवाज़ में जवाब दिया।

"कौन हो तुम हिन्दी में बोलने वाली ?"

"मेरा जन्म कलकत्ते में हुआ था, इसीलिए वे मुझसे घृणा करते हैं।"

अफ़सर ने उससे उठने के लिए कहा और हिन्दी पोस्ट की तरफ़ चलने का इशारा किया। लिंग को अपने बाएं हाथ में काफ़ी दर्द मालूम पड़ा। उसने देखा कि गिरते वक्त हाथ में एक नुकीला पत्थर गड़ गया और खून वह रहा था। अपने दाएं हाथ से घाव को उसने ज़ोर से दबा लिया।

उसका मन तरह-तरह के विचारों से डांवाडोल हो रहा था। कहीं हिन्दी सिपाहियों ने उसका विश्वास न कर उसे वापस जाने का हुक्म दे दिया तो ? वह एक क्षण के लिए घबरा उठी कि कहीं मन्दिर का शिखर दीखते ही थकावट से चूर, बिना देवता का दर्शन किए ही, गिरकर मर जाने वाले तीर्थयात्री की-सी उसकी हालत न हो।

उस कम्पनी का कमाण्डर सौदागरसिंह उस पोस्ट पर दौरे के सिलसिले में आया हुआ था। उसने लिंग के घाव को देखा और पट्टी बांध दी।

"अब तुम सुरक्षित हो। आज शाम को तुम्हें नीचे ले चलूंगा और तुमने सन्तोष करा दिया तो स्वतन्त्र हो तुम।"

वह 'स्वतन्त्र' शब्द सुनकर ज़रा सिहर उठी, किन्तु सिर हिलाकर खाई के एक कोने में बैठ गई और अपने बिखरे बालों को अंगुलियों से संवारने लगी। सिपाहियों के साथ, उनके हिस्से में से, थोड़ा-सा जलपान कर किसी विचार में वह डूब गई।

उसने देखा, हिन्दी जवान चीनियों से कहीं ज़्यादा हट्टे-कट्टे और सुसज्जित हैं। लेकिन वे लोग उस प्रदेश से बिल्कुल अपरिचित हैं। उन पहाड़ों में छिपने के हज़ारों स्थान हैं और उसका विश्वास था कि कहीं-न-कहीं चीनी छिपकर उन पर निगरानी कर रहे हैं।

"मेरे साथ-साथ चली आओ।" सौदागरसिंह ने हुक्म दिया। उसकी दृष्टि सुदूर पहाड़ों पर जमी थी, जिस देश से भागकर आई थी उसकी याद में। वह चुपचाप खड़ी होकर पीछे-पीछे हो ली।

लिंग का बाप कौन था यह वह नहीं जानती। लिंग की मां गत लड़ाई में शरणार्थी बनकर जब कलकत्ते पहुंची, तब सोलह साल की थी। पास में कुछ ज़ेवर थे, उनसे कुछ दिन काम चलाया। जीना सभी चाहते हैं, पर उसने सबसे सुगम यही पेशा समझा। वह काफ़ी हसीन थी। उसने किराए का एक कमरा ले लिया और वहां मेहमानों को बुलाने लगी। पास में एक कोठरी थी। मेहमान आते, तब लिंग को वहां बन्द कर दिया जाता। लिंग इसलिए सारे मेहमानों को, बिना बुलाए आगन्तुक समझकर, घृणा करती थी, क्योंकि उसे अपनी मां से घण्टों अलग उस कोठरी में बन्द रहना पड़ता था।

आगन्तुकों में एक शायद अच्छा पैसे वाला था। वह हर हफ्ते दो बार आता था। उसके लिए ख़ास खाना भी पकाया जाता और वह सारी रात वहीं बिताता। एक दिन लिंग को उसकी मां ने बुलाकर उससे भेंट करा दी।

उसने लिंग के सिर पर हाथ फेरकर कहा, "मैं तुम्हारी मां को प्यार करता हूं। तुम्हें कोई तकलीफ़ हो तो मेरे पते पर निस्संकोच आ जाना।" और अपना कार्ड लिंग को दे दिया।

लिंग १२ साल की हो गई थी। उसने कोठरी में लौटकर कार्ड के टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिए। इसके कोई एक महीने बाद उसकी मां चल बसी। यह सन् १९५२ की घटना थी। माओ का आधिपत्य चीन पर जम चुका था। उसकी देखभाल करने वाला कलकत्ते में कोई था नहीं, इसलिए चीनी कौंसल ने उसे चीन रवाना कर दिया और वहां वह एक 'कम्यून' में भरती कर दी गई।

वह पीछे-पीछे चल रही थी। चारों तरफ़ अंधेरा छाया था। केवल बड़े वृक्षों की ओट में ही नहीं, सर्वत्र इतना भयानक अंधेरा था कि तारों की टिमटिमाहट भी नहीं दीखती थी, और लिंग अपने ध्यान में इतनी मग्न थी कि हैडक्वार्टर के गेट की ठोकर लगने पर ही उसे मालूम पड़ा कि वह वहां पहुंच गयी है।

वहां खड़ी छाया को सौदागरसिंह परिचय दे आगे बढ़ गया और लिंग को वहां के कमाण्डर के सुपुर्द कर दिया। लिंग को जांच-पड़ताल का जितना भय था, वह निराधार निकला, मामूली पूछताछ के बाद उसे हिन्दुस्तान में रहने की इजाजत मिल गई।

थकी-मांदी वह पास की चाय की दुकान पर जा बैठी। उसका मालिक फुटसेरिंग ग्राहकों को चाय पिला रहा था। लिंग मेज पर अपने हाथ इस तरह रखकर बैठी, मानो वहां से उठने वाली ही न हो। उसकी आंखें चाय के प्यालों को ललचाई दृष्टि से घूर रही थीं। फुटसेरिंग को दया आई।

चाय का प्याला उसकी ओर बढ़ाते हुए उसने कहा, "लो, पी जाओ। या तुम्हें कॉफी चाहिए ?"

"ना।"

"तो फिर एकदम पी जाओ।"

लिंग ने प्याला ले लिया और खाली कर दिया। फुटसेरिंग उसे ध्यान से देख रहा था। अब उसने अपने बाल ठीक कर लिये थे। सुन्दर दीखती थी, किन्तु चेहरा उसका पीला पड़ा हुआ था।

"और एक प्याला चाहिए ?"

लिंग ने सिर से "हाँ" का संकेत किया।

फुटसेरिंग ने एक प्याला और दे दिया। उसने उस रास्ते से बहुत-से शरणार्थी गुजरते देखे थे, किन्तु लिंग जैसी औरत को देखकर उसे कुछ अच्छा नहीं लगा। वह समझा नहीं, ऐसा क्यों मालूम दिया।

"कहां जाओगी ?" उसने पूछा।

चारों तरफ़ चुपचाप घूरकर उसने देखा।

"पास में कुछ पैसे हैं ?"

वह निराशासूचक मुस्कराकर स्थिर हो गई। चेहरा तो हँसने की कोशिश में था, पर आँखों में झलक रही थी कातरता।

"कल रात पहुंचीं तुम ?"

उसने सिर हिला दिया। फुटसेरिंग उसकी हालत से द्रवित हो उठा। चेहरे का भाव था या उसकी सूखी हँसी, किन्तु फुटसेरिंग ने यह तय कर लिया कि लिंग को वह खोये बच्चे की तरह भटकने न देगा। उसने उसे अपने स्टाल में काम दे दिया और बगल में रहने को लकड़ी की एक झोंपड़ी खड़ी कर दी।

उसका स्टाल फौजियों को बहुत प्रिय था। उनके रोज़मर्रा के काम को छोड़ उस गांव में मन बहलाने के और साधन न थे। हां, कभी-कभी सिनेमा का आयोजन ज़रूर किया जाता था। वे लोग शाम को इस स्टाल में चाय, कॉफी पीते और ताश खेलते।

फुटसेरिंग उन्हें चाय तो पिलाता ही, तेल के भुजिये भी वह बड़े स्वादिष्ट बनाता था। दोपहर से ही उसकी झोंपड़ी भरने लगती और बिना लुकाव-छिपाव के वहां हर तरह की चर्चा चलती। कहां कौन जानेवाला है, कौन-सी टुकड़ी आगे जायगी, कौन लौटेगा इत्यादि बातों की फुटसेरिंग को जानकारी थी।

झोंपड़ी से सटा उसका चौका था। ठण्डी रातों में वह वहीं गर्म चूल्हों के सामने सो जाया करता। अब लिंग खाना और चाय परोसने लगी। फुटसेरिंग ने पकाना अपने जिम्मे रखा। रात को दोनों साथ बैठकर बर्तन मलकर सफ़ाई किया करते।

उस दिन स्टाल में थोड़ी शांति थी। कुछ ज़्यादा ऊधम मचाने वाले जवान कहीं दूसरी तरफ़ चले गये थे। पकाना खत्म कर फुटसेरिंग बैंच के एक किनारे पर आ बैठा। लिंग भी जवानों को ताश में मशगूल देखकर वहीं पास जा बैठी।

वह कद में तो छोटी थी, लेकिन बदन अच्छा गठा हुआ था। उसकी तिरछी चितवन से खुशी झलकती थी। उसके गोल-गोल चेहरे पर घुंघराले बाल मोहक ढंग से बंधे थे। उसने देखा, फुटसेरिंग उसे टेढ़ी निगाह से एकटक देख रहा है। बाहर ठण्डी हवा की सर्दी झोंपड़ी में भी महसूस हो रही थी। वह फुटसेरिंग के और भी पास सरक गई। फुटसेरिंग ने अपना हाथ बढ़ाकर उसके कोमल हाथ को पकड़ लिया। लिंग ने हाथ हटाया नहीं। फुटसेरिंग भाव-विभोर हो सिर घुमा उसकी आंखों में एकटक निहारने लगा।

"तुम कभी सुखी भी थीं ?" उसने पूछा।

"क्यों नहीं !"

"सच्चा सुख, अकल्पित ?"

लिंग के मुंह पर सन्तोष की मुस्कराहट खेलने लगी, मानो उसके ऊपर सुख की बौछार हो रही हो।

"मैंने पत्नी की कल्पना तो कुछ और ही कर रखी थी, पर मालूम पड़ता है कि भाग्य में कुछ और ही लिखा है।"

लिंग ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसे देखा और उसके स्वर की नकल करती-सी बोली, "मुझे कोई साधारण लड़की न समझना, मैं बड़ी चालाक हूं।"

"मैं लड़कियों की चालाकी खूब समझता हूं।" फुटसेरिंग ने जवाब दिया और चौके की तरफ़ इशारा कर उठ खड़ा हुआ।

लिंग भी उठी और भीतर साथ-साथ जा पहुंची। फिर वह फुटसेरिंग के वक्ष

पर अपना सिर रख चुपचाप खड़ी रही।

"मैंने थोड़ी पूंजी जमा कर ली है और देखती ही हो कि हमारा स्टाल खूब लोकप्रिय हो गया है।" कहकर उसने लिंग का माथा चूम लिया।

दूसरी रात को लिंग के पांव सीधे न पड़ते थे। जवानों की बधाइयों और शादी की खुशी के नशे में वह चूर थी। चौके में घुसते ही वह चमकी, हिच-किचाहट से स्तम्भित हो खड़ी रही; किन्तु दूसरे ही क्षण वह फ़ुटसेरिंग से जा चिपटी। हां, यह करना उसके लिए काफ़ी हिम्मत का काम था।

सुहावना दिन था वह। दोपहर को फ़ुटसेरिंग बाज़ार गया था। लिंग धीरे-धीरे टहलती चौगान में पहुंची। सामने धूल से भरे मुर्झाये और थके चेहरे लिए कुछ जवान खड़े थे। मालूम पड़ता था, मानो वे भारी विपत्ति से किसी तरह बचकर आये हों। उनके पास ज़मीन पर घायल सिपाही पड़े कराह रहे थे। मुर्दों को तो शायद जंगल में ही वे लोग दफना आये थे।

"चीनियों को हम लोगों की टोह थी," उनका कप्तान सौदागरसिंह से कह रहा था, "यहां तक कि हम कौन-सी मोड़ से घूमेंगे, यह भी उन्हें पता था।"

लिंग जरा सिहरकर मन को ढाढ़स बंधा हरीसिंह के पास जा बैठी। हरीसिंह की हालत बुरी थी। "सब ठीक हो जायेगा", लिंग उसके सिर पर हाथ रखकर बोली, "कोई भय नहीं है।"

उस दिन शाम को फ़ुटसेरिंग के स्टाल में एक ही चर्चा थी। तीनों टुकड़ियां किधर जायेंगी, यह चीनियों ने कैसे जाना ?

लिंग सबको गर्म-गर्म शोरबा पहुंचा रही थी। एक सिपाही ने कहा, "यहां ज़रूर कोई दगाबाज़ है।"

"कौन ?" लिंग ने अपना ओंठ काटा, और सिर घुमा लिया कि कोई उसका यह मनोभाव ताड़ न ले।

रात को बर्तनों की सफाई ख़त्म कर वह आग के सामने लकड़ी के खम्भे का सहारा लेकर, पैर फैलाकर, आराम से बैठ दिन की बातें याद करने लगी। अब स्टाल खाली हो गया था, पर फ़ुटसेरिंग बाहर से नहीं लौटा था। उसे बैठे-बैठे अकेलापन महसूस होने लगा तो उठकर बाहर निकल पड़ी। योंही इधर-उधर टहलती-सी वह जंगलवाली सड़क पर थोड़ी दूर निकल गई। सामने से उसने किसी को जाते देखा। वह सौदागरसिंह-सा दीखता था। उसके आगे और एक आदमी छिपते-छिपते चल रहा था।

आगे वाले ने ज़रा पीछे की तरफ़ गरदन घुमाई। लिंग छिप कर एक पेड़ के पीछे हो गई। सौदागरसिंह भी एक चट्टान की ओट में ओझल हो गया। लेकिन आगे वाले आदमी की सूरत देखकर तो वह एकदम ठिठक गई। उसे अपनी आंखों

पर ही विश्वास न हो रहा था ।

वह फुटसेरिंग था। "क्या वह चीनियों को मदद करता है ?" उसने सोचा, "नहीं तो, उस तरफ वह यों छिपकर क्यों जा रहा था ?" नहीं, उसका मस्तिष्क ठीक नहीं है। ज़रूर उसे धोखा हुआ है, वह फुटसेरिंग नहीं था। वह लौट पड़ी।

काफ़ी रात गये फुटसेरिंग अपनी झोंपड़ी पर पहुंचा। उसने तेल-भरी अपनी टोपी और पुराना फौजी लम्बा कोट उतार कर बेंच पर रखा। लिंग उसके सामने खड़ी थी। उसका वही रूप सुन्दर और छोटा चेहरा, पर मुंह पर रोज़ की नरमाई के बदले कठोरता की छाप थी। उसने फुटसेरिंग की तरफ़ सन्देह की दृष्टि से देखा, पर फुटसेरिंग यह बदली भावभंगी न पहचान सका।

"कल सौदागरसिंह खुद चीनियों की खोज में जा रहा है। आज दिन-भर काफ़ी छानबीन हुई, लेकिन अबतक घाती पकड़ा नहीं गया।" उसने लिंग को बताया।

"हां।" कह लिंग उसके चेहरे को देख चुप हो गई।

"क्यों, क्या बात है ?" ज़रा ठहरकर लिंग ने पूछा।

"कुछ थक गया हूं, आज बहुत चक्कर लगा।" लिंग की प्यार भरी पूछताछ से विह्वल हो उसने उसे चूम लिया। लिंग पुलकित हो उससे लिपट गई।

मौसम कुछ बदला। दिसम्बर का महीना होते हुए भी उस दिन आसमान स्वच्छ नीलवर्ण हो चला। उस झोंपड़ी के सामने से जानेवाली सड़क गांव के नाके तक जाकर विलुप्त हो गई थी। देवदार के पत्ते झड़कर नीचे तिनकों का ढेर लग गया था और लटकती डालों पर हिमवर्तिका झूल रही थी। लिंग अपने दरवाज़े पर खड़ी उधर देख रही थी। वह चारों तरफ़ के खेत, उसके पार के पेड़ और उनपर झूमती नुकीली पहाड़ियों को अच्छी तरह पहचानती थी। उनके बीच की घाटी की भी, जिधर आज जवान गये थे, उसे पूरी जानकारी थी।

सामने सड़क से घसिटती-सी जवानों की कतार आ रही थी और स्ट्रेचरों पर मृतक और घायल सिपाही। वह धीरे-धीरे नज़दीक आ रहे थे। आज काफ़ी क्षति हुई। बहुत-से सिपाही घायल हुए और कइयों ने प्राणों की बाज़ी लगाई। सौदागरसिंह के भी हाथ में गोली लगी थी और पट्टी में हाथ लटक रहा था। लिंग ने प्रश्नसूचक आंखों से उसकी तरफ़ देखा। "कमीने ऊपरी घाटी में हमारी बाट देख रहे थे। हमारी आज की गश्त का उन्हें पता था।" सौदागरसिंह ने लिंग को देखकर कहा। पहाड़ी की तरफ़ अच्छे हाथ से मुक्का दिखाते हुए फिर बोला, "ख़ैर, अबकी बड़ा दल लेकर बदमाशों को समझूंगा।"

कुछ ठहर उसने पूछा, "पर यह तो बताओ, फुटसेरिंग आजकल स्टाल में कम रहता है। कहां है वह ?" और उसने लिंग के चेहरे का भाव देखने को नज़र

घुमायी।

विना किसी घवराहट के लिंग वोली, "क्यों, यहीं तो रहता है।" लेकिन उसके पैरों के नीचे ज़मीन जैसे खिसक गई हो। दरवाजा पकड़कर खड़ी रही।

फुटसेरिंग सारे दिन ग़ायव था। आज उसका स्टाल भी सूना पड़ा था। वह कुछ रात वीते लौटा। लिंग गले तक कम्वल ढांककर आग के पास लेटी थी। उसे देखकर वह उठ वैठी। लिंग का चेहरा पीला और भावशून्य था।

"अपनी झोंपड़ी में जा सोओ, मेरी तवीयत खराव है।" फुटसेरिंग वोला।

"क्या मैं देखभाल भी न करूं?"

"आज नींद मुझसे भाग गई है। मैं तो इधर-उधर घूमूंगा।"

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूंगी। मुझे अकेला न छोड़ो।" वह जल्दी-जल्दी घवराई-सी वोली। उसकी तेज़ सांस सुनाई पड़ रही थी। "आज रात नहीं, मैं नहीं रह सकती।"

पास वैठकर वह उसके चेहरे को गौर से देखने लगा—मानो वह लिंग की आंखों में कुछ खोज रहा हो और विना वोले ही जैसे साफ़-साफ़ फुटसेरिंग की आंखें कोई प्रश्न कर रही हों। वह वातें तो साधारण तौर पर रोज़मर्रा की तरह कर रहा था, पर उसकी आवाज़ से लिंग भयभीत हो चली थी। लिंग ने सन्देह से देखकर पूछा, "क्या हुआ?"

"कुछ नहीं। केवल आज तुम्हारा चेहरा वहुत दमक रहा है।"

लिंग और भी शंकित हो गई और अपना चेहरा दूसरी तरफ़ घुमाकर पूछा, "तुम कुछ वदले हुए-से लगते हो। क्यों?"

"मेरा जी अच्छा नहीं है।" और उसकी तरफ़ पीठ फेरकर वह सो गया।

लिंग उठी, तो आकाशी से सूरज की किरणें झोंपड़ी में फैली थीं। फुटसेरिंग चला गया था। वह उसके वारे में सोचने लगी। हठात् फुटसेरिंग के प्रति उसके मन में अतीव प्यार फूट पड़ा। उसके मस्तिष्क में फुटसेरिंग की आवाज़ गूंजने लगी, क्रोध और चिढ़ से नहीं, पर परिताप से पूर्ण, जिस आवाज़ में वह वीती रात वात कर रहा था। उसका सिर चक्कर खाने लगा और वह हताश हो उठी। उसके दिल में तूफ़ान-सा उठ आया और गला रुंध गया। "वह फुटसेरिंग को खुश क्यों न कर सकी? उसमें क्या कमी थी?" वह सोचने लगी।

थोड़े समय के लिए वह कातर हो उठी। उसका सिर चकराने लगा। वह दोनों हाथों से सिर पकड़ वैठ गई। वार-वार इस वारे में सोचने लगी। ऊंच-नीच सव पर विचार दौड़ा गई। यदि वह इन भावों से घृणा भी करती हो, तो भी अव वह उसके वस की वात नहीं थी, और उसकी आंखों में आंसू छलछला आये।

इतने में किसी ने धीरे से दरवाजा खटखटाया और उसे खोलकर दो फौजी

पुलिस के सिपाही भीतर आ घुसे।

"फुटसेरिंग कहां है ?" उन्होंने पूछा और बिना जवाब सुने ही बोल उठे, "तुमने उसके हाथ में कुछ देखा ?"

"वह यहां नहीं है। पता नहीं, कहां गया है।"

"छिपाओ मत, जिरेनेड चुराने के अपराध में वह गोली से मार दिया जायेगा।"

लिंग वेपरवाही से सिर हिलाकर बैठ गई। "तो फुटसेरिंग चीनियों की मदद करता है।" अव यह उसे निश्चय हो गया। श्रद्धामिश्रित आश्चर्य से वह खुले दरवाजे से वाहर ताकने लगी।

यकायक उसने जीभ से टिचकारी मारी। उसे अपनी वेवकूफी पर गुस्सा आया। क्यों न वह यह बात पहले जान सकी ? उसने अपने दोनों विरोधी भावों को संलग्न कर मन को सान्त्वना दी। लिंग की आंखों में खुशी की झलक चमकने लगी। वह अपने आप बोल उठी, "ठीक, अव हम एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचानेंगे। वाह, आज मैं सचमुच खुश हूं।"

किन्तु दूसरे क्षण उसका चेहरा उतर गया। "लिंग, तू तो महज वावली है। फुटसेरिंग को वचायेगी कैसे ? अव मैं क्या करूं !" वह वेचैनी से उछल कर खड़ी हो गई, मानो कहीं भागकर जाना चाहती हो।

वाहर से कुछ लोगों के चलने की आहट आई और सौदागरसिंह सिपाहियों के साथ एक स्ट्रेचर पर फुटसेरिंग को ले भीतर आ पहुंचा। फुटसेरिंग के पेट में गोली का वड़ा घाव अव भी वह रहा था। लिंग हक्की-वक्की रह गई। फुटसेरिंग ने लिंग की झोंपड़ी की तरफ इशारा किया। सिपाही लिंग को साथ खींच उधर चले। झोंपड़ी में, एक वड़े मिट्टी के गमले के नीचे, वेतारी खवर भेजने का एक जोरदार यन्त्र था। लिंग की आंखें क्रोध और घृणा से उत्तेजित हो गईं।

फुटसेरिंग सौदागरसिंह का परम अनुयायी था। सौदागरसिंह के घायल होने से उसे जोर की चोट लगी। वह चीनियों के छिपने के स्थान खोजने निकल गया। मौनपा होने की वजह से पहाड़ों में खोज निकालना उसके लिए कोई कठिन काम न था। एक दिन जव वह वापस लौटा तो लिंग कहीं गई हुई थी। वह सीधा लिंग की झोंपड़ी में उसे खोजने जा पहुंचा और आंगन में पड़ी एक छोटी वैटरी देखकर उसका माथा ठनका। झोंपड़ी के एक कोने में कई वर्तन-भांडे रखे थे। जव पकाने का चौका दूसरी तरफ़ था तव वह समझ न सका कि लिंग इतने वर्तन गमले इत्यादि कोने में क्यों रखती थी। उसने एक वड़ा गमला उठाया तो देखकर दंग रह गया। भीतर वेतारी ख़वर भेजने का यन्त्र था। वह समझ गया कि लिंग ने उसे कितना भारी धोखा दिया है।

उस रात को लिंग को सोते छोड़ वह निकल गया। उसे सव जगह घूमने की

इजाज़त थी। पौ फटे जब गश्ती गिरोह को हथियार दिये जा रहे थे, उसने चार जिरेनेड चुरा लिये और जंगल में चल दिया। छिपकर वह चीनियों के दल तक बिना खटके जा पहुंचा। चीनी खाना खा रहे थे। उसमें से एक ने फुटसेरिंग को देख गोली दाग दी। वह सख्त घायल हो गया, पर चीनियों का उसने सफाया कर दिया।

देवदार से घिरे छोटे से चौगान में चीनियों की क्षत-विक्षत लाशें पड़ी थीं और उस पहाड़ी के ढलाव पर घायल फुटसेरिंग। सौदागरसिंह को देख, वह खुशी से उछल पड़ा था। मृत्यु का अब उसे कोई भय नहीं था।

चारों तरफ़ के खेत और पहाड़ियां दोपहर के सूर्य से तप रहे थे। उसको क्या होने वाला है, यह लिंग अच्छी तरह अब समझ चुकी थी। किन्तु उसे अपने किये का कोई पश्चात्ताप नहीं था। उसे पूर्ण सन्तोष था कि उसने बड़े दादा के विश्वास को खूबी से निभाया।

उसे याद था, कैसे एक दिन उस कम्यून के नेता ने उसे सारे कम्यून के सामने खड़ा करके कहा था, "साथियो, बड़े दादा लिंग को बड़ी ज़िम्मेदारी का काम करने भेज रहे हैं। यह छोटी बहन लिंग सारी चालाकियां समझती है।"

लिंग को फिर भी एक खेद अवश्य था, वह यह कि उसने एक ऐसे नापाक कच्चे मनुष्य से सचमुच प्रेम किया, जिसने लक्ष्य में धक्का पहुंचाया। "कायर! गद्दार!" कहकर उसने फुटसेरिंग की तरफ थूक दिया और सिर ऊंचा कर सिपाहियों के साथ चल दी। □

रोशनी में अंधेरा

□

[इस कहानी सब के पात्र काल्पनिक हैं। कहीं सामंजस्य दीखता हो तो निरुद्देश्य अनजान में हो गया है।]

दिवाकर तब अधसोया-सा था। उसे कुछ ठण्डक-सी मालूम दी। लहर आई और ज़ोर से उसके मुंह पर बौछार पड़ी। वह चमका और उठ बैठा। देखा, वह समुद्र के किनारे जमी हुई रेत पर पड़ा हुआ है और लहरें उस पर प्रहार कर रही हैं। उसे बिल्कुल याद नहीं कि समुद्र-तट पर वह कब और कैसे आ गया। उसने चर्चगेट स्टेशन के पास नौशाद में बैठ कर कॉफी पी थी, फिर क्या हुआ, पता नहीं। शायद उस कॉफी में कुछ रहा हो !

निगाह घुमा कर उसने देखा—तट उठी हुई चट्टानों से घिरा था। बाहर निकलने का भी कहीं रास्ता नज़र नहीं आया, तब ज़रा घबराहट हुई। उसका मस्तिष्क मगर पूरा साफ नहीं था। सिर पर सूरज की गरम-गरम किरणें, सामने पानी की चकाचौंध और चट्टानों से घिरा हुआ तट। वह सुस्त होकर बैठ गया। शायद जो लोग दिवाकर को यहां छोड़ गये, वे उसे मारना चाहते थे। उसका गला सूख गया और सूरज के ताप से सिर जैसे भन्ना उठा। पास में टूटने वाली लहर में उसने गोता मारा। बाहर निकला और फिर एक गोता लगाया।

ठण्ड से ज़रा चैन आया और होश भी, तो वह चट्टानों की ओर चल पड़ा। सामने एक पगडण्डी थी। किन्तु एक छोटा-सा कंकड़ उसकी ठोकर से उछला और दूर चट्टान पर 'टन' करके गिरा। उसी क्षण उसे कुछ सुरसुराहट-सी मालूम पड़ी। सामने पाजामा पहने किसी का एक पैर उठता दीखा, और वह बेतहाशा दौड़ कर किनारे की एक छोटी चट्टान के पीछे छपककर घिरी हुई घाटी में गोता लगा गया। जैसे ही वह पानी में पड़ा, उधर से सनसनाती एक गोली चट्टान पर लगी और वहां से उछल कर उससे एक इंच पर पानी में छपक उठी। दिवाकर अन्दर-ही-अन्दर तैर कर नुकीली लटकती शिला के नीचे जा लगा और तब सांस ली।

उसे याद आया, कैसे एक बार गुंडों से छुटकारा मिला था। दिवाकर को वे लोग बांध कर फांसी पर लटकाने को ही थे कि पुलिस आ पहुंची; किन्तु वह इस

तरह पानी के अन्दर पहले कभी नहीं छिपा था। चारों तरफ नीले जल की प्रशांत सुन्दरता को उसने देखा और एक लम्बी सांस छोड़ी। "कितना शान्त वातावरण और यह शिव सुन्दरतम दृश्य ! यहां मेरा रक्त इसे कहीं कलुषित न कर दे।"

उसने पैरों की आवाज़ सुनी। लगा, जैसे दो मनुष्य ऊपर से पत्थर पर चल रहे हैं। वह सावधान हो गया।

कुछ नज़दीक आकर वे दोनों रुके। एक बोला, "मुझे विश्वास है कि गोली निशाने पर लगी थी।"

दूसरे ने कहा, "कहीं खून की एक बूंद भी तो नज़र नहीं आई।"

"पानी में गिर कर वह बह गया होगा।"

शायद दोनों सन्तुष्ट होकर वापस घूम पड़े। वे कुछ दूर निकल गये, तब दिवाकर ने उधर उचक कर ज़रा देखा। उनमें एक तो नारायण के जैसा था—हां, नारायण ही था, जिसने नौशाद में कॉफी पिलाई थी। दूसरे को दिवाकर पहचान नहीं सका। वह ख़ाकी कमीज़ और पैण्ट पहने था। दिवाकर ने उसे कहीं ज़रूर देखा था। अब याद नहीं, कहां और कब ? दूसरे के हाथ में पिस्तौल थी। दोनों ने फिर घूम कर घाटी की तरफ़ देखा। नारायण ने सन्तोष की सांस लेकर कहा, "हां, शायद गोली लग ही गई।" दूसरे ने सिर हिला कर पुष्टि की, और दोनों एक बड़े पत्थर के पीछे ओझल हो गये।

'नेशन' के सम्पादक रामचन्द्र ने एक शाम को दिवाकर को अपने कमरे में बुलाया। 'नेशन' का उत्तरी भारत में काफ़ी बोलबाला था। दिल्ली से प्रकाशन होने के कारण पार्लियामेण्ट के मेम्बरों पर भी उसका प्रभाव पड़ता था।

"तुम्हारे लिए फिर ख़ंजर तैयार है।" रामचन्द्र ने कहा।

"मैं तो इसका आदी हो गया हूं।" दिवाकर ने जवाब दिया।

"चीन, मालूम पड़ता है, हमारे द्रव्य उत्पादन में बाधा डालने के उद्देश्य से भारत में ज़ोरदार संगठन बना रहा है। अफ़सोस यह है कि एक पार्टी भी उसमें सहयोग दे रही है।" रामचन्द्र ने बताया, "इतना है कि यह संगठन अभी परिपक्व नहीं है। इसलिए चीनियों की चढ़ाई से जो वह चाहते थे, वह नहीं हुआ। फिर भी वे काफ़ी उत्पात पैदा कर गए और जो पार्टी सहयोग करती है, उसे चीन से पैसे की मदद तो मिलती है, पर वह पैसा पूरा नहीं पड़ता। वह पार्टी कई तरीक़ों से पैसे इकट्ठे करती है। शायद बम्बई में शराबखोरी से भी उसे ख़ासी आमदनी होती है। इनका भंडाफोड़ करना ज़रूरी है। इसका पूरा पता लगाना चाहिए।"

दिवाकर राखदानी में सिगरेट बुझाकर खड़ा हो गया। दिवाकर काम में चुस्त है, अनुशासन में रहने वाला है और अच्छे उद्देश्य के लिए कठिन-से-कठिन विपत्ति

का सामना करने को सदा तैयार रहता है। बम्बई में होने वाले खूनी हमलों के बारे में वह अच्छी तरह जानता था, और इस तरह के हमले करने वाला खूनी शायद ही पकड़ा गया हो, यह भी उससे छिपा न था। वह समझ गया कि उसे विपत्ति के भाड़ में झोंका जा रहा था। किन्तु वह तैयार था। घड़ी देखी और तय कर लिया कि जब जाना ही है तो वह रात वाला वायुयान ही क्यों न पकड़ ले।

सोचते ही वहां से निकल पड़ा और नाल में से होता हुआ सड़क पर अपने कूपे मोटर में बैठ घर जा पहुंचा। गाड़ी गैरेज में बन्द की और नौकर को घर संभाल कर टैक्सी से हवाई अड्डे को चल दिया।

उसने जेब से काग़ज तीसरी बार निकाल कर फिर से देखा। न तो काग़ज़ में ही कोई ख़ासियत थी और न उस पर की लिखावट में। शायद यह उसे फांसने का फन्दा ही हो, किन्तु वह तो आंखें खोलकर, जान-बूझकर, फन्दा भी हो, तो उसमें फंसना चाहता था।

साफ़ सुन्दर अक्षरों में पता लिखा था। सुबह नाश्ता करके जब वह निकला तो कुछ तय नहीं कर पाया कि कहां जाय। कई रेस्तरांओं में घूम आया और चारों तरफ़ घूर-घूर कर देख आया कि कहीं आने-जाने वालों से कोई नया सुराग़ मिले। न तो किसी बैरे ने ही उसे कुछ बताया और न वहां आने वाले ग्राहकों का ही कोई सन्देहजनक व्यवहार उसने देखा। 'हर्ष' में उसने जो कुछ देखा, उसके चलाने वालों का भी अबतक कोई पता न चला। अन्त में 'नौशाद' में खाना खाकर दिवाकर ने तय किया कि वह 'मेट्रो' सिनेमा में 'बेन हूर' फ़िल्म देखेगा।

टिकटों के लिए लम्बी लाइन लगी थी। दिवाकर भी उसमें खड़ा हो गया। धीरे-धीरे कठघरे के क़रीब जाने लगा। आगे वाले टिकट ले लेकर एक-एक निकलने लगे। दिवाकर के सामने कुल तीन आदमी बाक़ी रहे। हठात् कोई उसके हाथ में एक चिट्ठी पकड़ा गया। दिवाकर ने सिर्फ पीछे से भागते किसी का घेरदार घाघरा देखा और वह भी लोप हो गया।

वह भौंचक्का-सा देखता रह गया। उसने चिट्ठी खोली, उस पर सिर्फ़ यह लिखा हुआ था :

"तीन बजे दोपहर को सीता महल, बैंकबे, फ्लैट नं० ४-ए।" रात निकालना उसके लिए मुश्किल हो गया। दो-एक बार सोचा, क्यों न उसी समय सीता महल पहुंचा जाय। फिर ज़रा विचार कर रह गया। करवटें बदलते-बदलते सुबह हुई और टैक्सी में जा बैठा। सोचा, कहीं दोपहर को रास्ता न भूल जाऊं! क्यों न मकान एक बार अच्छी तरह देख लूं। दिन भर और जांच उसने स्थगित रखी, और तीन बजे की बाट देखने लगा।

जब समय क़रीब आ पहुंचा तो दिवाकर ने अपने पास जितने पैसे ज्यादा थे,

निकालकर होटल कैश में जमा करा दिये और टैक्सी पर बैठ मंज़िल को चल पड़ा। टैक्सी ड्राइवर को पूरा पता न देकर केवल बैंकवे चलने का आदेश दिया, और कोई दो फलांग की दूरी पर ही उतर पैसे चुका कर उसे विदा कर दिया। दिवाकर ने फिर एक बार उस काग़ज़ को पढ़ा। उसे फाड़कर सड़क की नाली में फेंक सतर्कता से आगे बढ़ गया।

भीतर घुसते ही अन्दाज़ लगाने के लिए वह ज़रा-सा रुक गया। सीता महल साफ़ सुथरा, किन्तु मध्यवर्गीय साधारण किराये का मकान था। दरवाज़े पर एक पठान बैठा था।

लिफ्ट पर चढ़कर बटन दबा दिया। लिफ्ट के चलते ही मन में विचार उठने लगे। वह ३५ साल की आयु का अविवाहित युवक अकेला था। एक क्षण के लिए वह भयाकुल हो गया। कहीं मारा गया तो उसके बारे में पूछने वाला भी कोई नहीं। यह सोचकर भय से दिवाकर कांप उठा, किन्तु साहस करके ज़रा-सा मुस्करा दिया।

चौथी मंज़िल पर लिफ्ट रुकी। एक प्लेट पर 'ए' लिखा हुआ था। उसने घण्टी बजाई। जवाब न मिला तो फिर घण्टी बजाई। उत्तर न पाकर उसने दरवाज़े का हैंडल घुमाया। झट दरवाज़ा खुल गया। ज़रा शान्त होकर वह सुनने लगा, क्या कोई आवाज़ भी आती है? कोई लम्बे-लम्बे सांस ले रहा था। हल्की-सी चीख़ भी सुन पड़ी। आंगन पर लहू की बूंद। उसने दरवाज़ा बन्द किया और जिस कमरे से आवाज़ आ रही थी, उसके अन्दर घुस गया।

पलंग पर एक लड़की औंधे मुंह नग्न पड़ी थी। उसके कपड़े चीथड़े-चीथड़े होकर इधर-उधर पड़े हुए थे। पलंग के पास वह घुटनों के बल बैठ गया। कोई वहां आया है या बैठा है, इस ज्ञान से लड़की शून्य थी। पता भी चला हो, तो उसमें इतनी ताक़त नहीं रह गई थी कि वह अपने को ढांकने की कोशिश करती।

लड़की पीटी गई थी। उसकी पीठ पर, नितम्ब पर, जंघाओं पर, पैरों पर, सब जगह मार के निशान थे। चमड़े का एक पट्टा जिससे ये प्रहार किये गए थे, पलंग के नीचे पड़ा था। उसकी कलाइयां और बाहें जगह-जगह अपने को शायद बचाते समय खुरच गई थीं और बिस्तर पर खून के दाग़ पड़े थे। लड़की को दिवाकर ने करवट देकर सीधा सुलाया। देखा कि सामने भी पीछे की तरह मार के निशान हैं। छाती पर, पेट पर, जांघों, घुटनों और नीचे पिंडली और टख़नों पर भी चमड़े के पट्टे से उसे पीटा गया था। उसे अब पहचानते देर न लगी कि वह 'हर्ष' में गाने वाली मिस सिल्वा थी।

उसने चद्दर उठाकर उसे ढक दिया। गुसलखाने से तौलिया भिगो कर उसका मुंह पोंछा। लड़की ने आंखें खोलीं और कमज़ोर आवाज़ में धीरे से कहा, "वह मुझे पीटने के लिए ही भेजा गया था। हे प्रभु, ऐसे बेरहम आदमी मैंने कभी नहीं देखे।"

"किसने भेजा था उसे ?" दिवाकर ने पूछा।

"मत पूछो, इसमें न पड़ो।" और वह भय से सिहर उठी।

आहट सुनकर दिवाकर ने मुंह घुमाया तो एक लम्ब-तड़ंग मुस्टंडा कमीज़ और काला पैण्ट पहने दरवाज़े पर खड़ा देखा। "अच्छा, तो तुम हो ! यहाँ से रफूचक्कर हो जाओ, नहीं तो खिड़की से नीचे फेंक दूंगा।" कहकर वह टेलीफोन के पास जा खड़ा हुआ।

"चले जाइए।" लड़की ने कहा। दिवाकर लड़की की तरफ़ देखने लगा। लड़की के मुंह का पीलापन और मुस्टंडे की तरफ़ उसकी घबराई-सी नज़र देखकर दिवाकर समझ गया कि वह भय से कातर है। यह सोचते ही उसमें हिम्मत आ गई, वह धीरे-धीरे मुस्टंडे की तरफ़ बढ़ा और बोला, "तुम्हारी बातें ही बड़ी हैं, हो तुम पूरे डरपोक ! मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकोगे।"

मुस्टंडे ने छुरा निकाला, "इधर मेरे पास टेलीफोन के पास, न आओ, नहीं तो..." और वह छुरा फेंकने का स्वांग करने लगा। टेलीफोन से सटा एक रेडियो भी रखा था। रेडियो चलाने की चाबी तक मुस्टंडा हाथ बढ़ाकर भी नहीं पहुंच सकता था। दिवाकर थोड़ा धीरे से और आगे सरका और हठात् ज़मीन पर गिर पड़ा। रेडियो की चाबी तक हाथ बढ़ा कर झट से उसे घुमा दिया। रेडियो से ज़ोर की ध्वनि निकली और मुस्टंडा चमककर उछला। दिवाकर सधा हुआ खिलाड़ी था। इतने मौक़े का उसने पूरा उपयोग किया। टेलीफोन उठाया और मुस्टंडे की ठोड़ी पर ज़ोर से प्रहार किया। उसके हाथ से छुरा गिर पड़ा और वह भागा। जाते वक्त धक्का देकर किवाड़ भी बन्द कर गया।

दिवाकर ने लम्बी सांस ली और पुलिस-थाने से टेलीफोन मिलाया। पेस्टनजी सी० आई० डी० में थे। साथ में एक सिपाही लेकर आ पहुंचे।

"इसके लिए सबसे सुरक्षित स्थान तो जेल ही है, किन्तु वहां हम इसे नहीं ले जा सकते।" पेस्टनजी ने बताया, "हां, भगिनी-गृह में ख़ास प्रबन्ध करके सुरक्षित कर देंगे। मुस्टंडे के वर्णन से उसे तो मैं पहचान गया और यह भी अन्दाज़ कर सकता हूं कि उसे किसने भेजा; किन्तु भेजने वाला एक बड़ा नेता है। उसका मैं अभी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।"

अब उस लड़की मिस सिल्वा में भी हिम्मत आ गई। बोली, "मैं उस बड़े नेता के खिलाफ़ बयान देने को तैयार हूं। आप चाहें तो अभी लिख डालिए।"

"नहीं, अभी उसे भुला दीजिए, आप जीतेंगी नहीं। कहीं बात ज़ाहिर हो गई तो कहीं दिवाकरजी को ही वे लोग ख़त्म न कर दें !" पेस्टनजी ने कहा।

दिवाकर ने अपने होटल का ठिकाना बताकर विदा ली। मिस सिल्वा को पुलिस अपने साथ ले गई। दिवाकर 'नौशाद' की तरफ़ मुड़ गया और वहां उसने कॉफ़ी लाने का आर्डर दिया।

मिल आज चालू थी। मैनेजर पटेल कई लोगों के वीच होकर धुंधले दालान में से गुजरा। चारों तरफ़ केवल नरमुंड मशीनों के ऊपर से दीख रहे थे। मशीनों की गड़गड़ाहट से उच्च स्वर में किसी-किसी की गुनगुनाहट सुनाई पड़ जाती थी। वह सीधा लिफ्ट की ओर वढ़ा और दरवाज़ा धकेल कर वटन दवाया।

लिफ्ट दो मंज़िले पर जा लगी। वह लम्वा और इकहरे वदन का था। सफेद पैण्ट और वुश-कमीज़ पहन रखी थी। पर इनसे उसका गठन किसी तरह छिप नहीं रहा था। वह गम्भीर मुद्रा में था। उसकी नाचती हुई चमकीली आंखें चेहरे पर प्रकाश डालने में असमर्थ थीं।

भीतर आफ़िस में मेज़ के सामने एक दूसरे सज्जन वैठे-वैठे दन्तकुचरणी चवा रहे थे। पटेल के भीतर आते ही वे वोल उठे, "अच्छा, मैं तो सोच रहा था कि कहीं खो गए। वैठो, और ज़रा वताओ, यह सव क्या हो रहा है ? हां, यह दिवाकर हैं। अपने ही हैं।"

"वारूद पर वैठा हूं। वस, चिनगारी की कमी है। अभी तक तो पांच-सात ही थे। वहां वीसों मिल गए और अव राजनीति और पार्टी-वाज़ी के मारे वातावरण घृणा से ओत-प्रोत हो गया है।" पटेल ने कहा।

"दादा को तो सदुपदेश करने के लिए वुलाया था, वेचारा पार्टी-वाज़ी से तो वह कोसों दूर है। अव क्या करोगे ?"

"सव वुरे नहीं हैं। वहुमत तो हमारे सद्‌उद्देश्य का आदर करता है, किन्तु अपने वच्चों और घरवार को याद करके सहम जाते हैं। किसी के आतंक से डरे हुए हैं।"

"कुलकर्णी तो हमसे सहमत है और वह मदद देने का वादा करता है। हां, दिवाकर उससे मिले थे।"

"कुलकर्णी वैसे सद्‌उद्देश्य वाला व्यक्ति है, जी-जान से मज़दूरों में शराव का प्रचार वन्द करना चाहता है, किन्तु हिम्मत जैसे वह हार-सा गया।" दिवाकर वोला।

पटेल ने वताया, "वह तो भला और समझदार है, भरसक प्रयत्न करता भी है; किन्तु यहां मालिक तो और ही कोई है। रात की पाली वालों में से कई ने पूरा काम किया, लेकिन सुवह वाहर निकलते ही उनमें से तीन वुरी तरह पीटे गए। एक को छुरा भोंक दिया गया। आज फिर काम धीमा चला और 'वेस्ट' की मिकदार वढ़ गई है।"

"हमें सावधानी रखनी है। कहीं कोई मशीन न तोड़-फोड़ दे। इसका पूरा भय है।"

"वहुत-से लोग दूसरे मत के हैं, किन्तु झगड़ा न वढ़ाने के लिए सहन कर लेते हैं। इनमें कई ऐसे भी हैं कि चाहें तो प्रतिद्वन्द्वियों का सिर तोड़ते नहीं डरेंगे। ये

लोग शायद मशीनें न तोड़ने दें।"

दूसरे सज्जन ने कहा, "जाने दो इन्हें भाड़ में ! करने चले थे उपकार, हो गया अपकार।"

"दादा अगली छुट्टी पर सत्यनारायण का पूजा-समारोह कर रहा है। कम-से-कम बहुमत पक्के हिन्दुओं का है। वे शामिल ज़रूर होंगे। दादा उनसे शराब न पीने की प्रतिज्ञा कराना चाहता है।"

"आपका समारोह शायद सफल न हो।" दिवाकर बोला।

"याद है, ऐसे ही समारोह का आयोजन करने में गोडबोले छुरे का शिकार हुआ।" दूसरे सज्जन ने जवाब दिया।

"देखें, कोशिश करना हमारा काम है।"

"कुलकर्णी।" किसी ने दूसरे कमरे से पुकारा।

"रमेश आया है, आप कल आना।" कहकर कुलकर्णी चल दिया। दूसरा कमरा बीच में पार्टीशन लगाकर बना था। दिवाकर बैठा सुनता रहा।

"यह कौन पत्रकार तुमसे मिलने आ रहा है ?" रमेश ने पूछा।

"उसका सम्पादक मेरे पिता का मित्र था। दिवाकर उसका पत्र लेकर आया है।" कुलकर्णी ने जवाब दिया।

"पत्रकारों से मिलना-जुलना अच्छा नहीं। उनसे दूर ही रहो। कल एक नम्बर के स्वागत की तैयारियां भी करनी हैं।"

"मैं खबर तो दिये देता हूं। पता नहीं, कितने जायेंगे। सत्यनारायण की पूजा जो है।" कुलकर्णी ने बताया।

"ये पूजाएं पूंजीपतियों के चोचले हैं।"

"हां, आप भी यह मान लीजिए कि पिता भी एक पूंजीपतियों का चोचला है, किन्तु बिना पिता के दुनिया में कोई पैदा कैसे हो ?" कुलकर्णी ने हँसकर जवाब दिया।

"ख़ैर, इस्माइल देख लेगा कि सब हाज़िर रहते हैं। तुम केवल बात चला देना।" चिढ़कर रमेश ने कहा।

कुलकर्णी एक सच्चा और लगन से काम करने वाला समाज-सेवक था। वह बड़े-बड़े कांग्रेसी नेताओं के साथ काम कर चुका था। जब वह बी० ए० करके कॉलेज से निकला, उसके बाप का देहान्त हो गया। किन्तु अपने पिता के जैसा ही वह भी निर्भीक और ईमानदार था। वे पुराने लोक-नेता जा चुके थे। अब के और पुराने लोगों में बहुत फ़र्क था। जब आपस में इन लोगों में कलह शुरू हुई तो कुलकर्णी उन्हें छोड़कर इस पार्टी में आ मिला। काम की लगन थी। शीघ्र ही कपड़ा कल-यूनियन का सरगना बन गया।

रमेश इस पार्टी के अखिल भारतीय विभाग का अगुवा था। उसके तेल चुपड़े हुए बाल इधर-उधर बिखरे पड़े रहते। पतले ओंठ, मुंह सदा बिचका हुआ, आंखें ऐंचातानी और बीच में बड़ी फोड़ा-सी नाक, ऐसी शकल थी।

'ख़ैर, दादा का यह प्रभाव कारीगरों पर अच्छा नहीं, दादा के प्रवचनों से उन्हें रोका करो।" रमेश ने फिर बात चलाई।

"दादा तो आध्यात्मिक प्रवचन करते हैं। उन्होंने हमारी पार्टी के ख़िलाफ़ एक शब्द भी आजतक नहीं कहा।"

"फिर तुमने वही बहस शुरू कर दी। कारीगरों की भलाई की बात पार्टी तय कर चुकी है।"

कुलकर्णी यों थोड़े ही चुप होने वाला था। बोला, "कारीगरों के मत की भी तो कोई इज़्ज़त है। यदि उन्हें न पूछा जाय तो फिर मजदूरों का राज्य क्या हुआ ?"

"समाज की भलाई किसमें है, यह याद रखो।" रमेश झल्लाया।

"सब की भलाई, चीज़ों का बंटवारा, यह तो भौतिक वस्तुओं पर लागू हो सकता है। यदि विचार-प्रकाशन की स्वतन्त्रता भी न रहे, तो मनुष्यत्व ही खत्म समझो। जो हर आम मनुष्य के लिए बुरा है, वह जाति के लिए, समाज के लिए, कभी हितकर नहीं हो सकता।"

"मालूम पड़ता है, आजकल तुम पूंजीजीवी-वर्ग का साहित्य पढ़ रहे हो।" तमककर रमेश बोला।

कुलकर्णी को रमेश की यह हरकत शायद अच्छी नहीं लगी। उसने धीरज से जवाब दिया, "यदि मनुष्य अपने को शृंखला में बांध भी दे, फिर भी अपने बच्चों के लिए बेड़ी छोड़ जाने का उसे कोई अधिकार नहीं। हर मनुष्य, मनुष्य और स्वतन्त्र होकर जन्मता है।" दिवाकर को फ्रेंच लेखक रोशो याद आ गया। यह उसी का नामी वाक्य था।

दिवाकर समझ गया, कुलकर्णी की हालत 'पानी बिन मीन' की-सी हो रही थी। उसे हठात् भान हुआ कि कुलकर्णी दलीलें दे-देकर समय बरबाद कर रहा है। न तो न्याय से और न दलीलों से ही पार्टी की कार्यप्रणाली बदलेगी। फिर रमेश की अक्ल में तो टोटा था ही।

दूसरे दिन दिवाकर ने सुना, कुलकर्णी की मृत्यु हो गई। रात को कोई गले में फन्दा डालकर उसका काम तमाम कर गया था।

जब बम्बई शहर बसा तो अन्दाज़ नहीं था कि कभी यह इतना बड़ा शहर भी बन जायगा। पहले कारख़ाने महालक्ष्मी और वरली के इर्द-गिर्द खड़े किये गए थे, और बढ़ते-बढ़ते यह सारा ही मोहल्ला आज एक भयानक कारखाना बन गया।

इसके चारों तरफ़ बस गईं गन्दी बस्तियां, जिनमें हज़ारों मज़दूर रहने लगे। उस ज़माने में घोड़ागाड़ी में वरली पहुंचना एक यात्रा थी।

सन् '३० के आसपास सरकार ने बहुत-सी चालियां बना दीं; किन्तु बनी नहीं कि उससे पहले ही भर गईं। शायद ही किसी मज़दूर को अपने लिए पूरा कमरा मिला हो। ऐसे वातावरण में रहकर जूआ और शराब थकावट और तकलीफ़ भूलने के बड़े साधन थे। कांग्रेसी सरकार ने एक चाली के एक बड़े हॉल में 'हर्ष' क्लब बनाया कि मज़दूर लोग स्वस्थ साधनों में वहां बैठकर दिल बहलायें। पता नहीं कि 'हर्ष' कैसे पार्टी के संरक्षण में आ गया, और कैसे शराब और जूआ ज़ोरों से चलने लगे। मिस डी० सिल्वा जुहू के किसी होटल में छोटे-मोटे गाने गाया करती थी। पता नहीं, उसे भी कैसे यहां नाच-गाने का काम मिल गया। 'हर्ष' क्लब एक अच्छा-ख़ासा अड्डा बन गया।

चाली की यह बम्बई निराली ही है। शाम की पाली के जाने के बाद मीलों तक गलियां सुनसान हो जाती हैं और गाड़ियों का कोलाहल दूर से यहां पहुंचते महज़ एक गुनगुनाहट-सा रह जाता है। अंधेरे के बाद कल-कारखानों में गाड़ियां आनी बन्द हो जाती हैं। केवल कहीं-कहीं एक छोटी खिड़की से बिजली की रोशनी सड़क पर नाच उठती है।

'हर्ष' की सीढ़ियों पर दादा खड़ा था। भीतर कांच के गिलासों की खनखनाहट और हल्ला-गुल्ला चालू था। कहने की ज़रूरत नहीं कि शराब का दौर चल रहा था।

दादा एक देश-सेवक था। सत्याग्रह के दिनों में जेल भी हो आया था। अब इस उम्र में मज़दूर-कल्याण-कार्य में सहयोग देता था।

सीढ़ी के सिरे पर एक मुस्टंडा खड़ा था। कई मेजों पर बैठे धीरे-धीरे लोग सुरा का स्वाद ले रहे थे। बीच-बीच में कहकहा लग जाता था।

"अच्छा, अब आप यहाँ से रुखसत होइये।" मुस्टंडे ने दादा से कहा।

"भाई, बात क्या है? आप सदा ही मुझसे चिढ़े क्यों रहते हैं?" दादा ने जवाब दिया।

"आप तो जानते ही हैं, क्यों? अब मुझसे जबरदस्ती न कराइए।"

दादा ने सिर हिलाया। उसकी ज़िन्दगी में ऐसे अवसर कई बार आये थे, जब उसने नृशंस हत्यारों का मुक़ाबला किया था। वह कुछ चिन्तन में पड़ गया था।

"दादा!" मुस्टंडे ने चिल्लाकर धक्का दिया। दादा का एक पांव आखिरी सीढ़ी पर था, दूसरा उठा हुआ और वह अपने भावों में मग्न था। धक्का दादा संभाल न सका, लुढ़कते-लुढ़कते रेलिंग के एक कोने से जो सिर टकराया तो खोपड़ी फट गई। बूढ़ा दादा परलोक को कूच कर गया।

बड़े कमरे का शोरगुल एकदम बन्द हो गया, मानो किसी ने रेडियो की

चावी घुमाकर बन्द कर दिया हो। बरामदे में दूसरा मुस्टंडा आकर खड़ा हो गया।

दूसरे ने पूछा, "कौन है ? क्या हुआ ?" उसने ग़ौर किया तो सारा वाक़या सामने आ गया। पहचानते ही कि वह कौन है, उसकी मानो धड़कन बन्द हो गई।

पहले ने कहा, "भैया, तुम जानते ही हो कि मैं ऐसा जान कर थोड़े ही करना चाहता था।" और उसकी घिग्घी बंध गई।

"सिराजकर को मैं तुरन्त खबर देता हूं।"

"हा भाग्य ! अब क्या होगा ?" पहले मुस्टंडे ने कहा। सिराजकर की प्रतीक्षा में दोनों सीढ़ी पर खड़े रहे। मिस सिल्वा शराब के कठघरे के पास बैठी थी।

सिराजकर ने दर्जनों प्रश्न पूछे, तब कहीं उसे सन्तोष हुआ। उसने अपना कोट निकालकर खूंटी पर रखा और आराम से बैठ गया। पर उसका चेहरा बता रहा था कि उसकी बुद्धि बड़ी तेज़ी से तर्क-वितर्क करने में लगी थी। अन्त में, वह दोनों मुस्टंडों को हिदायत देकर चुपचाप बैठ गया। दोनों मुस्टंडे काम बजाने दौड़े।

आध घण्टे बाद लौटे, तो साथ में पटेल भी थे। दोनों उन्हें ज़बरदस्ती घसीट लाये। सिराजकर ने कहा, "अच्छा, अब खून पर उतर पड़े। पुलिस को तो सबूत चाहिए, हमारे पास काफ़ी है।"

पटेल भौंचक्के-से रह गए। वह तो अभी-अभी फैक्टरी से निकलकर टैक्सी की फ़िराक़ में सड़क पर खड़े थे कि दोनों मुस्टंडे उन्हें पकड़ लाये।

"ऐसा कौन होगा कि अपने निजी आदमी का खून कर बैठेगा !" पटेल ने कहने का प्रयत्न किया। "ऐसी बेतुकी बात कौन मानेगा !"

"यह तो पुलिस को बताना।" और दो-चार धक्के लगाकर उनके कपड़े फाड़ दिये, मानो पटेल किसी से लड़े हों।

एक-एक करके खुशी मनाने वाले पहले ही बाहर निकलने लगे थे। अन्त में सिर्फ धुआं और बैठने वालों के पसीने की दुर्गन्ध हवा में रह गई थी। सब के अन्त में जाने वाला एक बदसूरत-सा किसी फैक्टरी का फ़ोरमैन-सा लगता था। वह इस तरह बच कर दीवार से सटता-सा निकला, मानो उसके पीछे कोई घातक चल रहा हो। सड़क पर पहुंचते ही दिवाकर सीधा होकर चलने लगा।

अंधेरा घिर रहा था। निकलने का रास्ता तो शायद ऊपर की चट्टानों पर से ही था। इधर नारायण और दूसरा आदमी दो थे, और दोनों के पास हथियार थे। अकेले दिवाकर का उनसे बिना हथियार पार पाना कठिन था। पानी से बाहर तो वह निकलेगा, लेकिन भूख और ठंड से मारा जायगा।

खैर, घसिटता-सा दिवाकर पानी से निकला और एक बड़ी शिला के पीछे मिट्टी पर पड़ रहा। एक झोंका हवा का आया। वह सिहर उठा, किन्तु यह क्या देखा तो समुद्र से कोई बत्ती से चिलके दे रहा था। वह अपने हाथ पर सिर रखकर लेट गया, और रोशनी के चिलके की तरफ़ देखने लगा। देखा कि धीरे-धीरे एक लांच उस तरफ बढ़ता आ रहा है, और उसमें से कोई रोशनी से संकेत कर रहा है। वह सरक कर और भी शिला से चिपट गया, जिससे उसकी परछाईं भी ज़मीन पर कहीं न पड़े।

इतने में नारायण और उसका साथी, दोनों आ पहुंचे। उनके हाथ में छोटी-सी टार्च थी, जिससे उन्होंने संकेतों का जवाब दिया। लांच धीरे से किनारे आ लगा। उस घाटी में पानी काफ़ी गहरा था, इसलिए कोई दिक्क़त नहीं हुई। अब उसे लांच पर के लोग भी दीखने लगे और उनकी बातें भी सुनाई देने लगीं। नारायण का साथी शायद अगुवों में से था। लांच के कप्तान ने पुकारकर कहा :

"शीघ्र चढ़ जाओ। आज माल नहीं जायेगा।"

"क्यों ?" अगुवे ने पूछा।

"पुलिस आज बड़ी सतर्क है। हम लोगों के पास काफ़ी मछलियां हैं। शीघ्र मछुओं के कपड़े पहन कर आ जाओ, समय बहुत कम है।"

कुछ मिनटों में ही वे रुख़सत हुए। अब दिवाकर पूरी खोज कर सकता था। "यह जोखिम लेने जैसी है, दो जने ही यहां थे और वे चले ही गये। शायद खाने-पीने को भी कुछ मिल जाय।" दिवाकर ने सोचा।

उसने चट्टानों की तरफ़ दृष्टि गड़ा कर देखा। वह थककर कमज़ोर हो गया था। थोड़ा-सा ऊपर चढ़ना भी उसके लिए कठिन था। ज़ोर से दांतों से ओंठ दबा कर चला। रास्ता पथरीला घूमता हुआ दो बड़े पत्थरों के बीच से एक गुफा पर पहुंच गया। दल वाले एक मोमबत्ती जलती हुई छोड़ गये। वे इसी उम्मीद में थे कि कुछ समय और रहेंगे। इतनी फुर्ती से निकलना पड़ेगा, यह उन्होंने न सोचा था।

गुफा के अन्दर शराब बनाने का कारखाना था। वहां भट्टी बनी हुई थी और अलग-अलग लेबिल लगी सैकड़ों बोतलें पड़ी थीं। भाग्य उसका अच्छा था। एक तरफ़ बिस्किट के और फलों के रस के कुछ डिब्बे भी पड़े थे। दिवाकर को इतनी भूख लगी थी कि स्वाद लेकर बिस्किट खाये और अनार का रस पिया। अब रात को कोई क्या आयेगा, यह सोचकर घास इकट्ठी करके वह सो गया।

सूर्योदय हो गया था। एक किरण दिवाकर के चेहरे पर गिर रही थी। वह उठ बैठा। उसने अन्दाज़ लगाया कि जिस तरह का उस दल का ढंग था, रात से पहले वहां कोई नहीं आयेगा। दिन भर वह अच्छी तरह वहां की खोज कर

सकेगा।

गुफा तक आने के कई रास्ते बने थे। टेढ़े-मेढ़े रास्ते चट्टानों के इर्द-गिर्द होकर कहीं-कहीं सीढ़ियां काटकर बनाये गये थे। दूर से देखने में मालूम होता था कि ऊपर जाना दुश्वार है, किन्तु रास्ते-रास्ते सुगमता से पहुंचा जा सकता है। उन चट्टानों के पीछे काटकर बड़े मोखे बने थे, जिनमें कोई भी छिप कर दो-चार दिन रह सकता था।

भट्टीखाना तो पूरा था ही। लेबिल देखने से मालूम हो जाता था कि सब क़िस्मों की शराब वहां बोतलों में भरी जाती थी।

"कैसी वाहियात बात है।" दिवाकर ने विचार किया, "सारा-का-सारा बन्धेज बे-बुनियाद है। इतने बड़े पैमाने पर होने वाली चोरी को मुट्ठी-भर आबकारी विभाग के सिपाही कैसे रोक सकते हैं? यदि अब से दो गुने सिपाही भी कर दिये जायं, तो भी इन गुण्डों की कारस्तानियों में रत्ती-भर भी बाधा नहीं डाल सकेंगे। हज़ार कोशिश करके भी इनके खास सरदार तो पकड़े नहीं जाते। इन बड़े लोगों का तो इतना प्रभाव फैला हुआ है कि कानून इनकी छांह तक भी नहीं पहुंचे और जबतक शराबखोरी पर बन्दी है तबतक कई लोग तो केवल इस रोमांच के लिए ही शराब पीते हैं।

"मिस सिल्वा शायद इस तस्वीर को पूरा कर सकेगी," दिवाकर ने आशा की। "और पुलिस की सुरक्षा में मिस सिल्वा को कोई भय नहीं होगा।" दिवाकर ने सारा दिन खोज में और खाने में बिताया। यदि फिर यहां से न निकल सका, और ज़िन्दा रहा तो भी शायद दूसरी रात इतने आराम से न कटे।

शाम को वह घाटी के किनारे रेत पर आ बैठा। चारों ओर शान्ति थी। धीरे-धीरे अंधेरा हो चला। उसने दूर से एंजिन की ताल सुनी। शायद आज यहां से माल जायगा। वह धीरे-धीरे पानी में, लांच जहां खड़ा होता था, उसके क़रीब आ घुसा। दिन में उसने कोशिश करके अन्दाज़ लगाया था कि शायद वह बम्बई-बन्दर से चार घण्टे के फ़ासले पर है। एक बार बन्दर तक पहुंच गया तो फिर सुरक्षित है।

लांच में सारी तैयारी थी। माल छिपाकर रखने की जगह तैयार थी। बस लांच ठहरते ही वे लोग कूद पड़े। सारा प्रबन्ध खूब सावधानी से किया गया था। आधे घण्टे में माल रखकर लौटने की तैयारी हो गई। अंधेरे का फायदा उठा, उस भगदौड़ में दिवाकर ने चुपके से पास तैर कर लांच से उतरती एक रस्सी पकड़ ली और पानी में ढीला होकर पड़ गया। रात का अंधेरा था, लांच के साथ खिंच कर वह भी बम्बई जा पहुंचा।

दिवाकर अपने होटल में आ गया। बन्द कमरे में बैठकर उस रोमांचकारी

घटना के बारे में सोच-सोचकर मज़ा ले रहा था। अब उसे एक बार मिस सिल्वा से मिलकर पूरा पता करना था।

धीरे-धीरे उठकर वह तैयार हुआ और नीचे जाकर एक टैक्सी पकड़ी। भगिनी-गृह से कुछ दूर पर टैक्सी छोड़ दी। सतर्क होकर वह उस मकान की तरफ़ पैदल ही चल पड़ा। देखा कि एक तरफ़ भेष बदले पेस्टनजी भी खड़े थे।

"क्यों, कुछ और पता चला है ?" दिवाकर ने पूछा।

"नहीं, अभी तो बड़ी मछलियों की ताक में बैठे हैं।"

दिवाकर दूसरी मंज़िल पर चढ़कर गया और बतलाया हुआ दरवाज़ा खड़खड़ाया।

मिस सिल्वा ने दरवाज़ा खोला। वह अपने पलंग पर तकिये के सहारे बैठी कुछ पढ़ रही थी। पास ही एक कुर्सी रखी थी। उधर इशारा करते हुए बोली, "आप इस पर बैठें, मैं पलंग पर ही बैठती हूं।"

"मैं एक दो बातें पूछने आया हूं।"

"कहिए, क्या जानना चाहते हैं ?"

"तुम्हारे बारे में।"

"अच्छा, मुझमें इतनी दिलचस्पी है।"

"मैं तुम्हारी दशा से कुछ वाकिफ़ हो गया हूं, इसलिए सोचता हूं कि कुछ मदद कर सकूं तो .."

मिस सिल्वा पलंग पर पल्थी मारकर बैठी थी, बोली, "मैं तो कुछ-कुछ निराश हो रही थी।"

"निराशा की कोई वजह नहीं।"

"बताइए, फिर क्या करूं ? पैसे मेरे पास हैं नहीं। यदि पुलिस को कुछ बताऊं तो जन्म-भर तो पुलिस निगरानी नहीं करेगी। वे लोग मुझे कब का ख़त्म कर देंगे। फिर इस हालत में पार्टी से माफी मांग उन्हीं के पास जाने के सिवाय और कोई चारा नहीं।" सिल्वा ने जवाब दिया।

दिवाकर उत्तेजित होकर बोला, "मैं तुम्हें ज़रूर इससे बचाऊँगा। मैं दिल्ली जाऊंगा और वहां किसी काम का बन्दोबस्त करूंगा। ये मुस्टंडे तो क्या, इनके मालिक भी दिल्ली जाकर प्रहार करने की हिम्मत नहीं करेंगे।"

मिस सिल्वा उठी और नीचे जाकर चाय ले आई। जबतक चाय प्यालों में डालकर दोनों आमने-सामने न बैठे तबतक वह मौन-सी रही। चाय की घूंट लेते ही जैसे पानी का पनाला खोल दिया; उसने शुरू से सारी बातें कह डालीं।

दिवाकर को कमीज़ और ख़ाकी पैण्ट वाला अगुवा याद आ गया। वह खुशी से उछलकर चिल्लाया, "अब तो गूंगा भी चुप नहीं रह सकता।"

रामचन्द्र ने मिस सिल्वा को 'नेशन' आफ़िस में अच्छा काम दे दिया। दिवाकर ने कुछ टाइप किये हुए काग़ज़ देखकर कहा, ' हां, मिस सिल्वा, एक कापी पेस्टनजी को भी इस रिपोर्ट की भेजनी है।"

"हां, मुझे खूब याद है, किन्तु क्या सचमुच वह अगुवे अब गिरफ्त में आयेंगे ?"

"मेरी रिपोर्ट छपने पर यदि सरकार ने कुछ न किया, तो पार्लियामेंट चुप न रहेगी।" □

घर के भेदिये

□

"साहब अभी घर पर नहीं हैं, और उनको आज फुर्सत भी नहीं है।" अर्दली ने टेलीफोन पर जवाब दिया।

जनरल जगतसिंह ने घर में क़दम रखते ही सुना। उधर से बोलने वाले ने फिर कुछ कहा। अर्दली कहने लगा, "मैं आपको कोई समय नहीं दे सकता, सीधे साहब से ही बात करना होगा।"

जनरल ने बीच में ही पुकारकर कहा, "ठहरो, मैं सुनता हूं।"

"हलो...मैं, जगतसिंह।"

उधर से जवाब मिला, "जनरल साहब, आप मुझे शायद न पहचानें, पर यदि खोई हुई फाइल के बारे जानना चाहते हैं, तो फौरन यहां चले आइए।"

"कौन हैं आप ? क्या फाइल आपने चुराई है। यह तो बहुत बड़ा जुर्म है—जीवन-क़ैद..."

"मैंने कोई फाइल-वाइल नहीं चुराई, आप अगर चोर को जानना चाहते हैं, तो एकदम चले आइए।"

"आखिर आप हैं कौन ? कैसे आपको ख़बर लगी ?"

"इतना समय मेरे पास नहीं है, गोली लगी है, दम तोड़ने ही वाला हूं।"

"कहां हैं आप ?" जनरल ने बड़ी उत्कण्ठा से पूछा।

"३ नम्बर, भानुप्रताप लेन।" और लाइन कट गई।

जगतसिंह ने गाड़ी जल्दी से स्टार्ट की, और वे शहर की तरफ़ चल दिये। भानुप्रताप लेन नई और पुरानी दिल्ली के बीच एक छोटी-सी सड़क थी। चारों तरफ की घनी बस्ती देखकर कोई अन्दाज़ नहीं लगा सकता था कि इनके बीच में थोड़े-से खुले बंगले भी हैं। बात यह थी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के किसी अफ़सर का यह बड़ा बगीचा था। दिल्ली बढ़ने लगी, तो यहां भी छोटे-छोटे कई बंगले लोगों ने बना लिये। इनके चारों तरफ़ की ज़मीन तो बड़े-बड़े मकानों से भर गयी, पर बीच में यह छोटा-सा खुला टुकड़ा बच गया।

गाड़ी चल रही थी, पर जगतसिंह गम्भीर विचारों में उलझे हुए थे। "धोखा

देकर कहीं कोई फंसा न दे।" उन्होंने सोचा। ऐसा विचार आते ही एक सिहरन उनकी वदन में दौड़ गई। "क्यों न शंकर से सलाह करते चलें?" फिर उन्होंने सोचा। शंकर उनका वकील और दोस्त भी था। सुप्रीम कोर्ट में शंकर नामी वकीलों में से था और जजों पर उसकी धाक थी। यद्यपि ज़रा घूमकर जाना पड़ता था, पर अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया।

चपरासी सलाम का जवाब दे जगतसिंह शंकर के कमरे में घुस गये। शंकर को वहां न देखकर चपरासी का इशारा वे समझ गये। वह भी साथ-साथ अन्दर आ गया था।

"आज तो अभी साहय वापस आने के नहीं।" उसने कहा।

"तो घर पर टेलीफोन पर तो मिलेंगे।"

"नहीं, साहव तो कहन रहे कि शहर के वाहर जावौ। रात को १० तक लौटेंगे।" चपरासी ने वताया।

"अच्छा ऐसा है, तो साहव को यह चिट्ठी पहुंचा देना।" और काग़ज़ पर लिखकर कि मैं कहां जा रहा हूं, पांच रुपये का नोट चपरासी को पकड़ा, जगतसिंह वाहर निकल गये।

जगतसिंह गेट के खम्भों पर मकान का नम्बर देखते-देखते गाड़ी चला रहे थे कि यकायक गाड़ी सामने खड़ी एक मोटर से टकराई। यह दूसरी मोटर यकायक कहां, कैसे आयी, यह वह समझ न सके।

सामने की मोटर से दो पुलिस के अफ़सर निकले और जगतसिंह की गाड़ी के दोनों दरवाज़ों पर आ खड़े हुए। दोनों शरीर में हट्टे-कट्टे थे, उनके बगल में रिवाल्वर लटक रही थी।

"क्या चाहते हैं आप? हटिए, मुझे ज़रूरी काम है।" जगतसिंह ने गाड़ी का दरवाज़ा खोलते हुए कहा।

"यह तो हम भी देख रहे हैं, तभी तो आपने सामने मोटर भी नहीं देखी।" उनमें से एक ने कहा।

"अफ़सोस है, लेकिन मोटर आपकी यकायक सामने आ गई।"

"यह आप थाने में बताइएगा।"

"अच्छा, अव हटिए, मेरे पास इतना समय नहीं है।"

"तो, आप पुलिस के काम में बाधा देते हैं? यह दूसरा जुर्म है।"

उनमें से एक ने बढ़कर जगतसिंह का हाथ पकड़ लिया। "जनाब, चुपचाप थाने चले आइए।"

"देखते नहीं, मैं कौन हूं? मुझे ड्यूटी पर जाना है।" जगतसिंह ने झिड़ककर कहा।

"पुलिस के काम में बाधा तो देते ही हैं, और ऊपर से आप उसकी तौहीन भी करते हैं।"

"आप लोग जानकर क्यों ग़लत बातें कर रहे हैं ?" अपना कार्ड निकालने के लिए जगतसिंह ने अपना बटुआ जेब से निकाला।

"तो अब रिश्वत देने पर भी पहुंच गए, यह तीसरा जुर्म है।"

जगतसिंह गुस्से में कांप रहा था। आंखों से आग बरस रही थी, फिर भी वह अपने आपको काबू में रखने की भरसक कोशिश कर रहा था कि कहीं मार-पिटाई न हो जाय। दूसरे पुलिसवाले ने अपनी रिवाल्वर निकाल ली, और वह जगतसिंह के बगल में आ खड़ा हुआ। जगतसिंह जोर से अपना मुंह बन्दकर दांत पीसता हुआ चुपचाप उनके साथ अपनी मोटर में वापस जा बैठा।

"चलिए, थाने की तरफ़ घुमाइए।" एक पुलिसवाले ने हुक्म दिया।

आने-जानेवालों ने पहले तो कुतूहल से देखा, फिर कुछ लोग आकर पास खड़े हो गये। एक पहचाना-सा चेहरा देखकर जगतसिंह ने ज़रा उधर सिर घुमाया। दूसरे ही क्षण रिवाल्वर का कुन्दा उसकी पीठ पर लगा। थाने पर उसे ज़ोर से धकेलकर, वे दोनों पुलिसवाले भीतर ले गये। डेस्क पर जगतसिंह ने अपना पता, पेशा सब लिखाया और एक कोठरी में उसे बन्द कर दिया गया।

बड़ी कठिनाई से जगतसिंह ने अपने आपको काबू में रखा। उसे इस बात का अब पूरा अनुभव होने लगा कि किस तरह पुलिसवाले किसी को भी यदि चाहें तो फंसा सकते हैं। "लेकिन क्यों, वह एक अजनबी से मिलने जा रहा था ? कौन, वह कौन हो सकता है, जो मुझे उस अजनबी से मिलने देना नहीं चाहता ?" उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। जगतसिंह ने पी-पीकर जली सिगरेटों का ढेर लगा दिया। इसी गुत्थी में उलझा हुआ था कि एक सिपाही ने हवालात का दरवाज़ा खोला। रात के ११ बज गए थे।

जगतसिंह को थानेदार के कमरे में लाया गया। सामने कुर्सी पर डी० आई० जी० शार्दूल भी बैठे थे। एक तरफ शंकर वकील खड़े थे। जगतसिंह को देख डी० आई० जी० भी खड़े हो गये।

"माफ कीजिए, जनरल साहब, पर मैं इन दोनों अफ़सरों की तारीफ़ ज़रूर करूंगा कि इन्होंने इतनी हिम्मत दिखाई। और कोई होता तो आपकी वर्दी को देखकर ही डर जाता।"

"और अगर ये लोग एक-आध गोली मुझ पर चला देते, तो शायद आप इन्हें ऊंचे ओहदे पर पहुंचा देते ?" जगतसिंह ने झल्लाकर कहा।

"मुझे अफ़सोस है कि आपको यह दिक्क़त उठानी पड़ी।"

शंकर ने वाहर निकलकर पूछा, "किसकी खोज में हो तुम ?"

"यही तो जानने की कोशिश में हूं।" जगतसिंह ने कहा।

अपनी गाड़ी के पास खड़े हो रात की शीतल हवा में उसने एक लम्बी सांस ली। आगे झुककर देखा कि गाड़ी में एंजिन के स्विच पर उसकी चाभी ज्यों-की-त्यों लगी थी। उसने चाभी निकालकर जेब में रख ली।

"चलो, अपनी गाड़ी में बैठो।" उसने शंकर से कहा, "मुझे गवाह की ज़रूरत है, कहीं फिर न पकड़ा जाऊं ?"

"तो क्या तुम्हें फांसा गया था ?" शंकर ने अविश्वास के-से स्वर में पूछा।

"मुझे ज़रा पता लगा लेने दो, फिर पूरा जवाब दूंगा।"

बातें करते-करते दोनों भानुप्रताप लेन जा पहुंचे। ३ नम्बर का गेट अधखुला था। दोनों भीतर चले गये। चारों तरफ़ सन्नाटा था।

पोर्च की बत्ती जल रही थी। रात की शीतल हवा में पास में लटकती जुही की लता महक रही थी। दरवाज़े के पास जाकर जगतसिंह एक क्षण ठहर गया। फिर उसने ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया। भीतर से कोई आवाज़ नहीं आई। दोबारा उसने खटखटाने के लिए हाथ उठाया ही था कि अन्दर बत्ती का स्विच किसी ने दबाया और पांवों के चलने की हल्की-सी आहट सुनाई दी। वह रुक गया।

"क्या बात है ? रात बारह बजे आप लोग क्या चाहते हैं ?" एक युवती ने दरवाज़े से बाहर झांककर पूछा।

युवती के सिर पर से जगतसिंह ने झांककर भीतर देखा। सामने हॉल में सीढ़ियां थीं। एक तरफ़ मेज पर गुलदस्ते सजे हुए थे। दूसरी तरफ़ बड़े दरवाज़े से एक कमरे का कोना साफ़ दीख रहा था, वह शायद ड्राइंग-रूम था।

"क्या काम है आपको ?" युवती ने फिर पूछा।

जगतसिंह ने देखा, युवती कोई २५-२६ साल की है, देखने में ख़ूबसूरत। उसने एक ड्रेसिंग-गाउन पहन रखा था।

"जी, किसी ने टेलीफ़ोन से मुझे बुलाया, आप...आप यहां रहती हैं ?"

"और आपने क्या समझा है ?" युवती ने भृकुटी तानकर कहा। "इतनी रात को ? ज़रा तमीज़ सीखिये।" कह कर उसने किवाड़ ज़ोर से बन्द कर दिये।

"आजकल, जगत, तुम्हारा दिमाग़ ठीक नहीं।" शंकर ने लौटते हुए कहा, "अच्छा हुआ, मैं साथ था, नहीं तो कोई नया झंझट खड़ा कर देते तुम।"

जगतसिंह बिस्तरे पर जा लेटा, पर नींद कहां ? रह-रहकर उसके मन में कुछ उठता और वह तड़फड़ाने लगता। पसीने से सराबोर हो वह उठकर उस छोटे-से कमरे में चक्कर लगाने लगता।

मेजर जनरल जगतसिंह फौजी हैड-क्वार्टर पर सीधे चीफ-आफ-स्टाफ के नीचे काम पर तैनात थे। लोहित घाटी में चीनियों का मुक़ाबला करने के लिए उन्होंने कड़ी मेहनत करके स्ट्रेटेजी की फाइल तैयार की थी। दूसरे दिन सुबह उनकी खास आलमारी से दो फाइलें ग़ायब थीं।

जब फाइल उस दफ्तर में भी नहीं मिलीं, तो उन्होंने चीफ-आफ-स्टाफ से मुलाक़ात करना तय किया।

फौजी और पुलिस दोनों महकमों के जासूस फाइलों की तलाश में लगे, पर आज-कल, आज-कल करते तीन सप्ताह निकल गये और सुराग़ न मिला। जगतसिंह का तो बुरा हाल था। उन्हें मोअत्तिल कर दिया गया था।

"जगत, मुझे पूरा यकीन है कि तुमने यहां से फाइल नहीं उड़ाई।" चीफ-आफ-स्टाफ ने उन्हें आश्वासन दिया था। मगर जबतक चोर पकड़ा न जाय, किसी की हिम्मत न थी कि उन्हें वापस बहाल करे। आख़िर उनकी आलमारी से ही तो फाइल ग़ायब हुई थी। इन्हीं उठते-गिरते विचारों में रात कटी।

सुबह होते ही जगतसिंह ने झट अपनी गाड़ी निकाली और शंकर के घर चल दिया। शंकर बेंत के एक लम्बे सोफे पर पड़ा अख़बार देख रहा था। शंकर ने एक आंख से जगतसिंह को देखा और ओंठ को गोल आकार का करके सीटी की-सी आवाज़ करते हुए एक लम्बी सांस ली।

"भई, अजब पागल हो तुम। यह क्या झक लगी है तुम्हें।" शंकर ने कहा।

"यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है। मैं किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रहा।" जगतसिंह ने जवाब दिया।

"फाइल तुम्हारी आलमारी में थी। चाभी तुम्हारे यहां थी, या चीफ-आफ-स्टाफ के कब्जे में? चाभी और भी थी क्या कि उसे कोई निकाल सकता?"

'यह मुमकिन नहीं।"

"कल तुमने फोन सुना। क्या सुनने में तुम्हारी ग़लती हो सकती है? सच-मुच अगर कोई मरा होता, तो आज अख़बारों में ख़बर जरूर आती।"

"मैंने फोन अच्छी तरह सुना, इसमें कोई ग़लतफहमी नहीं हो सकती।"

"ठिकाना क्या था?"

"३ नम्बर भानुप्रताप लेन, और मुझे पुलिस ने शायद वहां जाने से रोकने के लिए ही पकड़ा। क्यों पकड़ा और किसका हाथ इसमें है?"

"क्या यह भी सम्भव है कि सामने की मोटर तुमने न देखी हो।"

"नहीं, ऐसा क़तई नहीं। वह मोटर यकायक सामने इसी इरादे से लाई गई थी।"

शंकर ज़रा उठकर सीधा बैठ गया। "जहां भी देखो पत्थर की दीवार से तुम घिरे हुए हो। रास्ता कहीं तो नहीं दीख रहा।"

जगतसिंह ने ज़रा-सा सिर हिला दिया।

"पर कोई गोली से मारा गया, तो अब तक ख़बर क्यों नहीं आई ?" शंकर ने फिर पूछा, "कहीं तुम्हें योंही किसी ने बनाया हो।"

"ऐसी आवाज़ बनानेवाले की नहीं हुआ करती।"

टेलीफोन की घण्टी बज उठी। शंकर ने टेलीफोन सुना। "चलो, एक मुर्दा जमुना के किनारे पड़ा मिला है। गोली उसके पेट में लगी।"

"तो क्यों न एक बार चलकर देखें।" जगतसिंह ने कहा।

शंकर तैयार होकर उसके साथ हो लिया। दो दिन पड़े रहने की वजह से लाश का चेहरा विकृत हो गया था। जगतसिंह ने बड़े ध्यान से देखा। चेहरा पहचाना-सा लगा। एकदम वह बोल पड़ा, "यह तो कैप्टन प्रकाश हैं। विश्वयुद्ध में इनकी एक अंगुली उड़ गई थी।"

शंकर ने भी ग़ौर से देखा। कैप्टन प्रकाश को रिटायर हुए १५ साल बीत चुके थे। पर जगतसिंह उनकी प्लाटून में रह चुका था। इधर कई वर्षों से मिलना न होने पर भी उसे पहचानने में देर न लगी। गोली पीठ में लगी थी और पेट को काटकर सामने बाहर निकल गई थी। ऐसा लगता था, मानो किसी ने नाल पीठ पर लगाकर गोली दागी हो।

"लेकिन यह यहां कैसे आये और इस झंझट में कैसे फंसे ?" शंकर ने पूछा।

जगतसिंह ने सिर टेढ़ाकर अपनी अज्ञानता प्रकट की। उसके लिए यह एक नई पहेली बन गई।

कैप्टन प्रकाश दिल्ली में अकेले रहते थे। उनकी पत्नी की मृत्यु कब की हो चुकी थी। कुटुम्ब में और कोई था नहीं। उन्हें शिकार का अब भी बहुत शौक़ था। अक्सर वह घर से दस-दस दिन ग़ायब हो जाते थे।

"हो-न-हो, ३ नम्बर मकान से प्रकाश की मृत्यु का सम्बन्ध ज़रूर है।' जगतसिंह ने ख़याल दौड़ाया। शंकर ने उस दिन पता लगाया था कि ३ नम्बर मकान में रहनेवाली उस युवती मिसेज़ मृणाल चटर्जी की मि० दामोदरन् से गहरी दोस्ती है। दामोदरन् के यहां उसका अक्सर रोज़ ही आना-जाना रहता था। लोगों का कहना था कि मिसेज़ चटर्जी दामोदरन् की रखैल है। दामोदरन् का पद देखते हुए जगतसिंह जैसे आदमी की क्या औक़ात कि मिसेज़ चटर्जी से दुश्मनी मोल ले !

"ज़रूर इस फाइल के उड़ाने में दामोदरन् का हाथ है, और ऐसे पद पर बैठकर वह एक फाइल क्या, पूरा प्लान उड़ा सकता है।" साथ ही, उसे बेहद ताज्जुब भी था कि क्या इतना बड़ा देशद्रोही भी कर्णधारों में से एक हो सकता है ? नहीं, यह बात कुछ बैठती नहीं, पर पहेली यह सुलझ नहीं रही थी।

जगतसिंह की आंखें खिड़की के बाहर ताक रही थीं, पर उसके मन में द्वन्द्व

चल रहा था। उसके माथे पर पसीने की बूंदें चमक रही थीं। अवतक पूरा दिन भी नहीं चढ़ा था, पर उसने सिगरेट पी-पीकर एक डिब्बा खाली कर दिया। वह उछलकर खड़ा हो गया और कमरे में घूमने लगा। आख़िर उस वताने-वाले ने ३ नम्बर भानुप्रताप लेन का ठिकाना क्यों वताया? उसने अपनी गाड़ी गैरेज से निकाली और उसी तरफ़ चल दिया।

जगतसिंह ने घण्टी का वटन दवाया। सुवह के दस वज चुके थे, पर भीतर घर में पूरी शान्ति थी। जव कोई जवाव न मिला, तो उसने दोवारा घण्टी वजाई। दो मिनट इन्तज़ार करने पर भी जव कोई वाहर न निकला, तो वह लौटने को ही था कि पैरों की धीमी आवाज़ उसने सुनी। सतर्क होकर वह खड़ा हो गया। आवाज़ धीरे आकर दरवाज़े के पास रुक गई। दरवाज़ा थोड़ा-सा खुला और अन्दर से दो आंखें वाहर आगन्तुक कौन खड़ा है, यह देखने लगीं। जगतसिंह ने अपने कंधे से ज़ोर लगाया, और सिल्क का लाल रंग का लम्बा गाउन पहने खड़ी मिसेज़ चटर्जी के पास से वह भीतर घुस गया।

अन्दर खिड़कियों से उजेला आ रहा था। हवा में एक भीनी-सी सुगन्ध फैल रही थी। आगे वढ़कर उसने एक खिड़की के शीशे के किवाड़ खोल दिये और सामने के ड्राइंग-रूम के दरवाज़े पर वह खड़ा हो गया। मिसेज़ चटर्जी कद में लम्वी थी और वदन उसका गठा हुआ था। वाल खुले हुए थे। अभी तक उसने अपने चेहरे पर मेक-अप भी नहीं लगाया था, शायद वाहर जाने का कोई तकाज़ा नहीं था।

जगतसिंह दीवार का सहारा लिये खड़ा रहा और मिसेज़ चटर्जी के वोलने का इन्तज़ार करने लगा। मिसेज़ चटर्जी लाल-तिरछी नजर से उसे देखकर खड़ी रही, मानो उसे वता रही थी कि वह वड़ा गुनहगार है।

कुछ क्षण दोनों एक-दूसरे को देखते रहे। जगतसिंह के मुंह पर ज़रा-सी मुस्कान आ गई, उसने कहा, "आपको मालूम ही है कि मैं यहां क्यों आया हूं?"

"मैं नहीं जानती, आपका क्या मतलव है?" और उसकी भृकुटी और भी तन गई।

"मिसेज़ चटर्जी, इस तरह की वातों से अव आपका छुटकारा नहीं हो सकता। मुझे दो-एक वातें मालूम करनी हैं।"

वह आगे वढ़ी और ड्राइंग-रूम में एक सोफे पर जा वैठी। उसने अपना सिर ऊपर को ज़रा झटक दिया। उसके वाल उछलकर पीछे की तरफ़ गिर गये। उसकी आंखें पूरी गोलाकार दीखती थीं, और सुवह की रोशनी में चमकने लगीं। गाउन को ज़रा सँभालकर उसने चिड़चिड़ी आवाज़ में पूछा, "पूछिए, आप क्या जानना चाहते हैं?"

जगतसिंह वगल की कुर्सी पर वैठ गया। वोला, "मैं कोई उचक्का नहीं हूं, मैं तो

सिर्फ यह जानना चाहता हूं कि कैप्टन प्रकाश यहां किसलिए आये थे ?"

विद्वेषपूर्ण आंखों से जगतसिंह को देखकर उसने कहा, "यहां कोई नहीं आया। मैं किसी प्रकाश-विकाश को नहीं जानती।"

जगतसिंह ने उसके मुंह पर आंखें गड़ा चेहरे को देखते हुए कहा, "प्रकाश की लाश कल सुबह जमुना किनारे मिल गई।"

मिसेज़ चटर्जी के चेहरे पर सूक्ष्म-सी हैरानी दौड़ गई, पर उसने तुरन्त एक झपकी ली, मानो अपने मन के भावों को परदे से ढक दिया हो, और बोली, "मिली होगी। यह दिल्ली है, यहां बहुत-से लावारिस मरते रहते हैं।"

मिसेज़ चटर्जी ने फिर अपना चेहरा ऊपर उठाया, जैसे वह तीव्र दृष्टि से जगतसिंह के मन का भाव ताड़ना चाहती थी। जगतसिंह ने समझ लिया कि उसका पाला ज़बरदस्त प्रतिद्वन्द्वी से पड़ा है। वह कुर्सी से उठा और हॉल में जा, दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल गया।

शंकर और जगतसिंह कुछ देर चुप रहे। "अरे, मैं तुम्हें बीस साल से देख रहा हूं। तुम सदा से ही दुस्साहसी रहे हो। पर मिसेज़ चटर्जी से झगड़ा मोल लेना तो आत्मघात ही समझो, फिर यह फाइल की चोरी भी तुम्हीं पर थोपी जायेगी।" शंकर ने कहा।

वह थका हुआ-सा सिर हिलाकर चुप रह गया। कुछ क्षण ठहरकर बोला, "यही तो मुझे भी लगता है।" उसका चेहरा कुछ खोया-खोया-सा लगता था। यकायक उसकी आंखों में एक चमक-सी आ गई। "उस दिन से मैं सोच रहा था, वह चेहरा किसका है। हां, वह था, खैरातीलाल, प्रकाश का नौकर। वह भी ३ नम्बर के सामने था।"

शंकर ज़रा उत्साह से सीधा होकर बैठ गया। "उसे कुछ पता हो सकता है।"

"शायद, पर मुझे पक्का विश्वास है कि मिसेज़ चटर्जी का हाथ इन घटनाओं में ज़रूर है। कल शाम को उसे चीनी दूतावास में जाते देखकर तो मैं और कुछ मानने को ही तैयार नहीं हूं।"

"सारी पार्टी ही चीन के साथ है, और दामोदरन् पार्टी का पक्षपाती है, यह तो जानी हुई बात है।" शंकर ने कहा, "और हम लोग ऐसे देशद्रोहियों को सहयोग भी देते हैं!"

प्रकाश एक छोटे-से मकान में करौलबाग में रहता था। "किन्तु प्रकाश क्या जानता था और भानुप्रताप लेन वह क्यों गया ?" यह बात जगतसिंह के दिमाग़ में बार-बार चक्कर काट रही थी। खोजते-खोजते वह किसी तरह ठिकाने पर पहुंचा। बहुत खटखटाने पर खैरातीलाल डरता-सा दरवाज़े पर आया। जगतसिंह को देखकर तो वह रो ही पड़ा।

खैराती को धीरज बंधा वड़ी मुश्किल से वह इतना ही जान सका कि उस दिन कैप्टन प्रकाश सारी रात उद्विग्न थे। एक कोई छोटी-सी लाल रंग की फाइल पहले दिन उनके पास आई थी। रह-रहकर वे उसे पढ़ते थे। सिगरेट-पर-सिगरेट पीते जा रहे थे। अन्त में सुवह के ११ बजे, तो वे खैराती को साथ लेकर भानुप्रताप लेन को चल पड़े। उस दिन उन्होंने अपना पुराना रिवाल्वर निकालकर गोलियां भी रख ली थीं। खैराती सहम गया था। उससे यह कहकर कि यदि वे एक घण्टे में ३ नम्वर मकान से न निकले, तो खैराती समझ ले कि वे ख़त्म हो गये। प्रकाश चुपके-चुपके पिछले रास्ते से मकान के अन्दर चले गये और हिदायत कर दी थी कि मृत्यु के वाद जो कुछ घर में रखा हो, उसे खैराती उनके एक दूर के मामा के लड़के को सौंप दे। कहते-कहते खैराती घिघियाने लगा।

"खैराती, मैं प्रकाशवावू के खूनी से वदला ज़रूर लूंगा।"

"नहीं वावूजी, आप ऐसी खतरनाक जगह न जायें।"

"प्रकाश वावू के रिवाल्वर का क्या हुआ ?"

"उनके हाथ में तो था।"

जगतसिंह ने खैराती की पीठ पर एक थपकी लगाई, और वहां से चल दिया। हां, वह लाल फाइल भी लेता गया।

फाइल में फौजी खुफिया की रिपोर्ट थी। रिपोर्ट का इशारा भी मिसेज़ चटर्जी की तरफ़ था, पर कोई सवूत नहीं थे। रिपोर्ट वड़ी दवी जवान में लिखी गई थी। ऐसा लगता था कि लिखनेवाला किसी से डरकर कुछ लिख रहा हो। यह भी ज़ाहिर हुआ कि कैप्टन प्रकाश रिटायर होकर भी फौजी खुफिया को मदद दिया करते थे। "उद्विग्नता का कारण यह मुर्दा रिपोर्ट ही रही होगी।" जगतसिंह ने सोचा। कैप्टन प्रकाश यों किसी से दवनेवाले आदमी नहीं थे। साफ़-साफ़ वातें उन्हें पसन्द थीं।

'अवश्य मिसेज़ चटर्जी के यहां इसका भेद खुलेगा।" किन्तु शंकर इसके एकदम खिलाफ़ था कि जगतसिंह अव उस घर में पांव भी रखे। उसने सिगरेट का कश लिया और फिर उन्हीं विचारों में डूव गया। "पर यह जीवन तो युद्ध है। या तो अपना वचाव करो, नहीं तो प्रतिद्वन्द्वी की गोली का निशाना वनो।" वह सोचता गया और उसके लिए वचाव का साधन केवल एक था—प्रकाश के क़ातिल का पता लगाना।

उसे मालूम था कि रात को सिवाय एक वूढ़ी दाई के मिसेज़ चटर्जी के पास कोई नहीं रहता। नौकर अपने घर चले जाते हैं और मिस्टर चटर्जी तो वरावर कलकत्ते में ही रहते हैं। जव मृणाल चटर्जी काफ़ी पैसे लाती है तो प्रमोद कुमार चटर्जी क्यों कोई काम करने लगे।

उसे अब विश्वास होने लगा था कि मिसेज़ चटर्जी खूंखार औरत हो सकती है और काम पड़ने पर किसी तरह की निष्ठा उसे बाधा नहीं दे सकती।

खाना-पीना भूल जगतसिंह उसी चक्कर में था। घड़ी ने रात के १२ बजाये, तो ज़रा चौंक कर वह उठा और गैरेज में से अपनी मोटर निकालकर चल दिया। चारों ओर शान्ति थी। कहीं-कहीं पुलिस सिपाही को देखकर वह ज़रा सिहर उठता, मानो सिपाही उसे ही गिरफ्तार करने जा रहा हो। भानुप्रताप लेन के कोने पर उसने एक तरफ़ मोटर खड़ी करके खिड़कियां चढ़ाईं और ताला लगाकर चाभी जेब में रख ली।

बड़ी सावधानी से चारों तरफ़ देखता हुआ वह आगे बढ़ा। उसने फौजी पैट्रोल के साथ गश्त तो लगाया था, किन्तु इस तरह का अनुभव पहले कभी नहीं किया था। ३ नम्बर मकान को उसने चारों तरफ़ घूमकर देखा। किवाड़ सब बंद थे। इस चक्कर में था कि अब क्या करे कि उसे एक तदवीर सूझ गई। खिड़की पर झिलमिल के किवाड़ लगे थे। उसने जूही की एक पतली मजबूत-सी डाल काटी और झिलमिल में डाल चिटखनी खोलने की कोशिश करने लगा। काम धीरज का था। तीन बार चिटखनी के कुण्डे में लगकर डाली फिसल गई; पर चौथी बार उसे सफलता मिली। चिटखनी खुल गई।

इस काम में वह इतना मशगूल था कि पुलिस उधर चौकी देती होगी, यह वह बिल्कुल भूल ही गया। इतने में उसने पुलिसमैन की लाठी की टंकार सुनी। उछलकर वह अंधेरे में हो गया। कुछ देर देखता रहा। जब पुलिस वाले काफ़ी दूर निकल गये, तब उसने धीरे से किवाड़ खोले। अन्दर शीशे के किवाड़ योंही बन्द थे, ज़रा-सा धक्का देते ही खुल गये। उसने चारों तरफ़ देखा और वह अन्दर चला गया। उसने झिलमिल भीतर से बन्द कर दिये। वह जहां घुसा, वह एक छोटा-सा बाथरूम था। सामने के पल्ले बन्द थे। उसने घुण्डी को घुमाया और दरवाज़ा धीरे से खोला। वह अब सीढ़ियों के पास था। नीचे सीढ़ियों के हॉल के एक तरफ ड्राइंग-रूम था। वह वहां पहले आ चुका था। बगल में एक सोने का कमरा था और चौका था।

अन्दाज़ लगाया कि अगर कुछ हुआ भी, तो मिसेज़ चटर्जी ने ऊपर छिपाकर रखा होगा। पर ऊपर वह सो रही थी, और यह भय था कि कहीं जाग न जाय। फिर भी उसने एक बार नीचे के सोने के कमरे की तलाशी लेने का निश्चय किया। कमरे में ज़्यादा कुछ नहीं था। एक पलंग के अलावा शीशे की एक मेज़ थी और छोटी-सी एक आलमारी। पहले उसने आलमारी ही खोली। उसने अपनी छोटी टार्च निकालकर चारों तरफ़ आलमारी में रोशनी फेंकी, पर वह खाली थी। मेज के दोनों दराज भी खाली थे। जरा विचार में पड़कर पलंग के एक किनारे वह बैठ गया, पर बैठते ही उसे कुछ कड़ा-कड़ा-सा गद्दे के नीचे लगा।

तपाक से वह खड़ा हो गया। टार्च खोलकर उसने गद्दे का कोना उठाया और नीचे पड़ी चीज को देख एक बार खुशी से उछल पड़ा। दूसरे ही क्षण उसके सिर पर पीछे से किसी ने जोर से डंडे से प्रहार किया और वह वेहोश हो गिर पड़ा।

जगतसिंह ने आंखें खोलीं, तो बन्द खिड़कियों में से सुबह की पतली किरणें किवाड़ों की दरारों से आ रही थीं। उसके हाथ पीठ की तरफ़ वंधे थे। पांव भी बांधकर उसे दीवार के सहारे बैठा दिया गया था।

चारों तरफ़ नजर घुमाकर उसने देखा। वह वही ड्राइंग-रूम था, जहां वह मिसेज चटर्जी से मिला था। उसके पांव प्रायः सोफा से सटे थे, जहां उस दिन मिसेज चटर्जी वैठी थीं।

"अव तुम भी प्रकाश से शीघ्र मिलोगे।" जगतसिंह ने अपने आप से कहा।

"यह औरत इतनी खूंखार है और जबतक दामोदरन् कुर्सी पर है, इसे भय भी किसका है ?" वह सोचने लगा। "उसे ज्यादा सावधान रहना चाहिए था। अव उसका अन्त तो आ ही गया, पर यह कलंक उसके नाम पर सदा के लिए लग जायेगा।"

इन्हीं विचारों में वह डूवा था कि दरवाजा खुला। हाथ में रिवाल्वर लिये मिसेज़ चटर्जी अन्दर आई। "अच्छा, तो अव होश आ गया जनरल साहव को।" उसने व्यंग्य में कहा।

जगतसिंह ने देखा, आज वह पूरी सज-धजकर आई है। वाल खूवी से वंधे हैं। बाटिक की साड़ी का पल्लू असावधानी से कन्धे पर पड़ा है। उसका हाथ, जिसमें रिवाल्वर थी, सुस्थिर है। उसके चेहरे पर का भाव तो वह देखता ही रह गया। ऐसा नृशंस रूप उसने और किसी औरत का नहीं देखा था।

वह फिर कहने लगी, "मैंने उस दिन सतर्कता कम दिखाई कि गोली से बेहोश समझकर प्रकाश को कुछ देर अकेला छोड़ दिया। उसने तुम्हें फोन कर दिया। उस दिन तक फाइल भी यहीं रखी थी। खैरियत हुई कि उसने देखी नहीं।"

जगतसिंह टकटकी लगाकर उसकी ओर देख रहा था। उसने देखा कि पीछे से मि० मिश्रा चुपचाप आकर खड़े हो गये। जगतसिंह के चेहरे पर ज़रा-सी छाया आई। मिसेज़ चटर्जी को शायद कुछ भान हुआ कि पीछे कोई है। किन्तु वह कुछ करे, इसके पहले ही मि० मिश्रा ने उसकी दोनों बांहें ज़ोर से पकड़कर ऐंठ दीं। रिवाल्वर हाथ से छूटकर नीचे गिर गया।

"जनरल जगतसिंह, अव आपको कोई भय नहीं।" आई०जी० मिश्रा आश्वासन दे मृणाल चटर्जी को पकड़कर वाहर ले गये।

खैराती दौड़ता हुआ आकर जगतसिंह की रस्सी खोलने लगा। "अरे बाबू,

आई० जी० छुट्टी पर न होते, तो क्या मैं कैप्टन साहब को जाने देता। कल रात से इनके पांव पकड़े बैठा था। मिश्रा साहब बिना सबूत इस घर में आने से हिचकिचाते थे। लेकिन जब आप रात को नहीं लौटे, तो उन्होंने हिम्मत कर ही ली।"

जगतसिंह ने उठकर एक लम्बी जम्हाई ली। खैराती के साथ-साथ वे भी बाहर निकल गये। □

दैवी चेतावनी

□

भारत के इतिहास में दिल्ली का प्रभाव कभी इतना अधिक नहीं रहा, जितना आज है। यदि भोज्य पदार्थ चाहिए, तो दिल्ली की आज्ञा से मिलता है। कपड़े की ज़रूरत हो तो दिल्ली का हुक्म। मकान बनाने के लिए सीमेंट, लोहा दिल्ली ही प्रदान करती है। कदम आगे वढ़ाओ या पीछे हटाओ, हाथ उठाओ या उंगली, हर बात में दिल्ली की आज्ञा आनी चाहिए। 'ज़ौक़' ने कहा था, "कौन जाये ज़ौक़ पर दिल्ली की गलियां छोड़कर", मगर अब यह शेर यों वदल गया, "कौन जीये ज़ौक़ पर दिल्ली से रिश्ता तोड़कर।"

हां तो वहुत दिनों से मुझे भी दिल्ली जाना ज़रूरी हो गया था। आज-कल करते-करते आख़िर और टालना मुश्किल हो गया। एक दिन मैंने पक्का इरादा करके दिल्ली का टिकट कटा लिया, किन्तु अचानक पूर्वी रेलवे के कर्मचारियों ने हड़ताल करने की ठान ली।

ग़नीमत इतनी ही थी कि केवल पूर्वी रेलवे का ही झगड़ा था। मुग़लसराय से उत्तरी रेलवे शुरू हो जाती है। किसी तरह मुग़लसराय पहुंच गए, तो उम्मीद थी कि दिल्ली पहुंचना हो ही जायगा।

हड़ताल रात के १२ वजे से शुरू होने को थी। गाड़ी यदि किसी तरह आसनसोल पार कर गई तो शायद ठिकाने पर पहुंच जायं। स्टेशन पर पहुंच कर देखा कि कुली भी चुपचाप वैठे हुए हैं। मोटर से सामान निकाल कर प्लेटफ़ार्म पर रखा, मगर कुली जहां-के-तहां वैठे आपस में कानाफूसी करते रहे। पास में वैठे पहले कुली को पुकारा तो वह मुंह विचका कर रह गया। दूसरे को बुलाया तो वह, "अरे वावू, लौट जाव" कहकर चुप हो गया। दूसरे दो ने तो मुंह भी दूसरी तरफ़ कर रखा था। इतने में एक कुली पीछे से निकला और सामान उठाने लगा। पहले ने मुंह विचका कर उसकी तरफ़ देखा। दूसरे ने कहा, "वस, मर गया।" उसने जवाव दिया, "भैया, अभी तो १२ वजने में ५ घण्टे वाकी हैं।" दूसरे ने कहा, "लेकिन तुम तो ऐसे विदक पड़े कि चार पैसे भी नहीं छोड़ सकते!" उसका जवाव था, "यह तो पैसे का मामला नहीं, उसूली बात है।"

ख़ैर, किसी तरह सामान लादकर एयर कन्डीशन्ड कार में जा बैठा। बग़ल के डिब्बे में एक महोदय, जो शासक दल के नेता से दीखते थे, बड़े ठाठ से बैठे थे, मानो सारी रेलगाड़ी उन्हीं की हो। दूसरी तरफ़ सूट पहने एक विदेशी सज्जन थे। पीछे पता चला कि विदेशी घुमक्कड़ थे। उसके बाद के डिब्बे में ड्रेन पाइप पाजामा और आधी छाती तक खुली बिना बांहों की जाकिट पहने एक काली मेम साहिबा थीं। उनके साथ एक छोटा पिल्ला भी था। बीच-बीच में उसे गलियारे का एक चक्कर लगवा देती थीं। दूसरी तरफ़ चार सीट वाले डिब्बे में एक पुराने ढंग के सज्जन थे। साथ में उनके एक बुड्ढी माई थीं, शायद उनकी मां।

ज्यों-ज्यों गाड़ी छूटने का समय नज़दीक होने लगा, हमारी उत्कंठा बढ़ने लगी। गार्ड डिब्बे के सामने से तीन-चार बार निकल गया। कभी पीछे, कभी आगे, किन्तु गाड़ी न चली। इतने में मेमसाहिबा चिल्लाईं, "स्टुअर्ड, कब टक चलेगा, टाइम निकलटा है।"

स्टुअर्ड ने अदब से जवाब दिया, "साहब, पता नहीं, क्या मामला है।" किंतु सीटी बजी और गाड़ी रेंगने लगी। सबने चैन की सांस ली कि ख़ैर, कुल चालीस मिनट ही देर से चले। गाड़ी चलने से कुछ निश्चिन्तता-सी आ गई और बर्दवान निकलते-निकलते मेरी आंख लग गई। पता नहीं, कितनी देर सोया, पर आंख खुली तो मालूम पड़ा, गाड़ी खड़ी है। खिड़की में से झांककर देखा तो कुछ पास ही एक सभा जुटी हुई थी और कोई आदमी पास बनी सीमेंट की बेंच पर चढ़कर लेक्चर झाड़ रहा था। मैं भी दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ और सुनने लगा।

बोलने वाला बेंच पर से उतर रहा था कि इतने में हमारी गाड़ी के गार्ड साहब भी बोलने लगे, "भाइयो, तनख्वाह और दूसरे भत्तों की मार तो हम जैसों पर ज़्यादा पड़ती है। दुनिया-भर की ज़िम्मेदारी लेकर हमें मिलता ही क्या है? किन्तु हम लोगों की हड़ताल आम जनता की सद्भावना के बिना सफल नहीं हो सकती। नई गाड़ियां न निकालें, पर जो मुसाफ़िर चल पड़े, उन्हें अगर तकलीफ पहुंची तो सहानुभूति के बदले वे हम लोगों से चिढ़ जायंगे। यह डाकगाड़ी न रोकी जाय।" इस तरह की दो-चार दलीलों का, मालूम पड़ा, जैसे सुनने वालों पर असर हो रहा था। इंजन-ड्राइवर भी वहीं पर खड़ा था। वह बोल उठा, "मुझे तो गाड़ी ले जाना मंजूर है।" फिर क्या था, एक-एक करके सब तैयार हो गये और किसी तरह आसनसोल से गाड़ी खिसकी। बड़ा अड्डा आसनसोल ही था। मैंने लम्बी सांस ली।

मेमसाहिबा ने फिर स्टुअर्ड को पुकारा, पूछा, "यह डाबा टरफ़ क्या है?" 'डाबा' सुनकर समझते देर न लगी कि मेमसाहिबा गुजरात की रहने वाली हैं। फिर पूछा, "हम किटना लेट हैं?"

स्टुअर्ड ने बताया, "दो घण्टे लेट हो गये।"

"आगे से क्यों नहीं वटाया ? हम हमारा कुट्टा को घुमा लेटा।" स्टुअर्ड वेचारा क्या जवाव देता। उस वेचारे को क्या पता था कि गाड़ी आसनसोल से चलेगी भी।

वूढ़ी माई की सांस कुछ चढ़ी हुई-सी लगी। कभी-कभी खांसी के साथ धौंकनी-सी सुनाई पड़ जाती थी। नेता महाशय तो अपने डिव्वे में एकाधिपति राज जमा कर वैठे थे। घुमक्कड़जी भी दरवाज़े पर खड़े सभा का मज़ा देख रहे थे। शायद हिन्दुस्तानी हड़ताली तरीको को देखकर मन-ही-मन हँस रहे थे।

आसनसोल से आगे, सुना था, शायद हड़ताल का इतना ज़ोर न हो। गाड़ी चली तो फिर नींद सताने लगी और खूंटी तान कर सो गया। रात-भर सोता ही रहा। सुवह की रोशनी के साथ-साथ विजली की कड़कड़ाहट में आंख खुली। साथ ही गाड़ी धक्का देकर रुकी, मानो ज़ोर से ब्रेक लगा हो।

खिड़की के वाहर देखा—छोटा-सा प्लेटफ़ार्म और स्टेशन का नाम अजनवी-सा। स्टुअर्ड भी खड़ा था। मैंने पूछा, "क्यों जी, यहां भी डाक ठहरती है ?"

"ठहरती तो नहीं, शायद सिगनल न गिरा हो।" उसने वताया। घुमक्कड़जी भी गलियारे में आ खड़े हुए और हम दोनों ही दरवाज़े पर जा पहुंचे। देखा, सामने से एक चश्माधारी वड़े-वड़े वालों वाला स्टेशन मास्टर की पोशाक पहने सामने आ खड़ा हुआ। उधर से गार्ड साहव आ पहुंचे और ठीक हमारे सामने दोनों मिले। गार्ड ने पूछा, "क्यों, सिगनल डाउन कीजिए न।"

चश्माधारी वोले, "क्या आप नहीं जानते, हड़ताल चल रही है।"

गार्ड ने फिर अपनी आसनसोल वाली दलीलें दोहराईं, लेकिन चश्माधारी पर कोई असर न हुआ।

उसने कहा, "जानते नहीं हैं, मैं पार्टी के इस सर्किल का अध्यक्ष हूं। इस अहाते के सेल मुझसे पूछकर ही सब काम करते हैं। केन्द्रीय कमेटी का हुक्म तोड़ने की आप मुझसे फ़रमाइश करते हैं ?"

नेता महोदय भी, पता नहीं, कव से वाहर आकर खड़े थे और मेमसाहिवा भी। मेमसाहिवा ने झिड़ककर पूछा, "मुगलसराय किटना फ़ासला और है ?"

चश्माधारी ने वताया, "वस, पांच-सात मील पर वह स्टेशन दीखता है।"

"ओ गाड, जानटा नहीं, हमारा कुट्टा सख्त वीमार है। डिल्ली नहीं जाने से मर जायेगा।"

"कुत्ता मरे या जिये, गाड़ी नहीं चलेगी।"

नेता महोदय अव उवल पड़े, "जानते हो मैं कौन हूं ? मैं केन्द्रीय मंत्री के साले का साला हूं। या तो सिगनल लगाओ, नहीं तो तुम्हें जो भुगतना पड़ेगा, समझ लो।"

चश्माधारी ने कहा, "जनाव, मैं भुगता हुआ ही हूं। मुझे तो मुगलसराय जैसे

बड़े स्टेशन का स्टेशन मास्टर बनना चाहिए था। वहां से सात मील पर इस छोटे-से देहात में डाल रखा है। यह क्या कम है ?"

इंजन-ड्राइवर भी आ पहुंचा। गार्ड ने उसकी तरफ़ देखा। उसने जवाब दिया, "गार्ड साहब, मैं तो चला देता, पर लाल बत्ती के सामने जाने पर मुझपर मुकदमा चल सकता है।"

"बच्चू, केवल लाल बत्ती ही नहीं है, मैंने लाइन भी साइडिंग पर लगाकर लाक कर दिया है। मैं पार्टी ऐसे थोड़े ही चलाता हूं।"

पुराने ढंग वाले सज्जन भी आ पहुंचे। बोले, "भैया, यह मेरी बूढ़ी मां बनारस प्राण छोड़ने जा रही हैं। पहले ही यहां ख़त्म हो गई तो पाप तुम्हें लगेगा।"

"अजी, छोड़ो भी, हम लोग इस पाप-पुण्य और ईश्वर को नहीं मानते। यह तो पूंजीपतियों के चोचले हैं।"

ख़ासी भीड़ जमा हो गई थी। कई डिब्बों में से निकल-निकलकर लोग आ खड़े हो गये थे। एक बाबाजी भी थे। बोले, "देखो, बाबा विश्वनाथ जाने से रोकता है और पाप नहीं मानता, पुण्य नहीं मानता, कैसा हिन्दू है ?"

फिर क्या था, कइयों ने चश्माधारी को जा घेरा। वह भी घबराया कि कहीं मार-पिटाई न हो जाये। चेहरे से मालूम पड़ता था कि शायद अब मान जायगा।

देखा कि सामने से गैंग-सरदार दौड़ा आ रहा है, "माट्टर साहब, पुलैया बह गई, लाइन टूट गई।" चश्माधारी के चेहरे का भाव तो देखने ही लायक था। कभी खुशी कि गाड़ी न चलेगी, कभी मानो किसी ने पीछे से छुरा घोंप दिया हो। गाड़ी हड़ताल की वजह से नहीं रुकेगी, कम्बख़्त छोटी-सी पुलैया ने इसी वक्त टूटकर हड़ताल का सारा यश छीन लिया।

घुमक्कड़जी तो बार-बार पूछकर समझ रहे थे, मानो एक-एक शब्द पी रहे हों। इतनी दिलचस्पी कम लोगों में देखी। शायद यहां हड़ताल उन्होंने पहली ही बार देखी थी।

शाम तक मर-पचकर पैदल और बैलगाड़ियों पर मुगलसराय पहुंचे। दूसरे दिन दिल्ली। जब अख़बार आया तो ऊपर-ही-ऊपर बड़ी मज़ेदार घटना का जिक्र था। देखा, मोटे-मोटे अक्षरों में 'दैवी चमत्कार', 'स्टेशन मास्टर की बहादुरी।' लिखा था :

"कुचमन पर जाकर गाड़ी ठहरी। रात को घमासान पानी गिरा था। स्टेशन मास्टर ने सिगनल नहीं गिराया तो गार्ड साहब बहुत ख़फ़ा हुए। और भी मुसाफ़िर निकल पड़े और यहां तक कि स्टेशन मास्टर को पीटने को तैयार हो गए। मगर किसी की क्या मज़ाल कि सिगनल गिरवा दे। कुचमन से क़रीब सात

मील पर एक नाला है, जिसपर एक छोटी-सी पुलैया बनी है। स्टेशन मास्टर ने कहा कि पुलैया कमज़ोर है और मुझे कल सपना आया था कि पुलैया टूट गई, यह दैवी चेतावनी है। दैवी चेतावनी की बात सुनकर सब मुसाफ़िर ज़रा सहम गये। दैवी घटना होनी ही थी। इतने में गैंगमैन ने आकर ख़बर दी कि पुलैया सचमुच टूट गई है। मंत्री ने स्टेशन मास्टर को दिल्ली बुलाया है। कहते हैं कि मास्टर साहब के स्वप्न भविष्य का पूरा चित्र देखा करते हैं।"

साथ-साथ यह भी ख़बर थी कि पूर्वी रेलवे के कर्मचारियों का हड़ताल का प्रयत्न विफल रहा। कर्मचारी सभी काम पर आ गये। □

मिट्टी का कण

□

प्रोफ़ेसर गांगुली को क्लास पर बिगड़ते किसी ने नहीं देखा। उनकी क्लास में पूर्ण शान्ति रहती, जो कुछ वह कहते, लड़के पूरे ध्यान से सुनते। उनकी भाव-भंगी देखकर नटखट-से-नटखट लड़के की भी हिम्मत टूट जाती थी।

मिट्टी का एक कण और शक्ति उसकी इतनी महान्! कण-कण में एक ब्रह्माण्ड छिपा हुआ है। हर कण के बीच का भाग न्यूट्रोन और प्रोटोनों से बना हुआ है, यही उस शक्ति का केन्द्र है। जैसे ग्रह सूरज की परिक्रमा करते हैं, वैसे ही इस शक्तिपुंज की परिक्रमा करते हैं एलेक्ट्रोन। न्यूट्रोन और प्रोटोन दोनों एक-दूसरे से जुड़कर समूह बनाकर रहते हैं, जिनमें निर्धारित गणना में न्यूट्रोन और प्रोटोन रहते हैं। इनकी गिनती में फ़र्क पड़ते ही इनका विस्फोट होकर महान् शक्ति निकलती है।

यह एक कण हिमालय की चोटी पर पड़ा था। तेज़ी से हवा चली, पर इसे न हटा सकी। वर्फ़ गिरकर तह-के-तह जम गये और कण नीचे दब गया। फिर पिघली वर्फ, किन्तु कण को न बहा सकी।

प्रोफ़ेसर गांगुली, जब इस कण का विस्फोट हिरोशिमा पर हुआ, तब साइंस कालेज के छात्र थे। अख़बारों में यह खबर छात्र गांगुली ने भी पढ़ी, किन्तु उनके मन पर कोई इसका प्रभाव पड़ा भी हो तो कोई उनके चेहरे से समझ न सका।

लड़ाई ख़त्म हुई। गांगुली भी परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कालेज से निकले। फिर न्यूक्लियर फ़िज़िक्स पढ़ने अमरीका चले गये। अमरीका में भर्ती होने के लिए उन्हें काफ़ी प्रयत्न करना पड़ा। अन्त में सफल हुए। मगर सफलता से उन्हें खुशी हुई या दुःख, यह उन्हें देखकर कोई नहीं कह सकता था।

अमरीका में भी यश कमाया। वह अपने साथियों से सदा आगे रहे। गांगुली के काम से उनके प्रोफ़ेसर खुश थे। साथ-साथ उन्हें थोड़ा-सा शोध-कार्य भी दिया गया। उसे उन्होंने बड़ी दक्षता से पूरा किया। अमरीका से सफल होकर, बड़ी नामवरी लेकर, कलकत्ता आये। उनकी ठोड़ी पर उनकी फ्रेंच दाढ़ी ने उन्हें प्रौढ़ता भी प्रदान कर दी।

कलकत्ता पहुंचकर वह साइंस कालेज में सबसे ऊंचे ग्रेड पर प्रोफेसर नियुक्त हो गये और पास ही सरक्यूलर रोड पर एक तल्ला किराये पर लेकर रहने लगे। नीचे के तल्ले में मकान-मालिक रहता था। मकान-मालिक की लड़की, कोई बीस साल की, और पांच साल का लड़का भी साथ रहते थे।

लड़की खूबसूरत थी। नख-शिख अच्छे, गौर वर्ण पर धूप का सांवलापन झलक रहा था और गठीला वदन। कटे हुए माडर्न वाल हवा में उड़ते रहते। जहां से निकलती, राह चलने वाले एक निगाह उसपर ज़रूर फेंक देते थे। प्रोफेसर गांगुली से घर आते-जाते कई वार मुलाक़ात हो जाती, पर प्रोफ़ेसर नीची निगाह किये किनारा काट कर निकल जाते।

सुनीता हल्के लाल ओंठों से घिरे हुए श्वेत दांतों से हँसती, बगल से निकल जाती। रूप न सही तो भी उसकी महक ज़रूर उनकी नाक में पहुंच जाती, पर उन्हें इसका पता भी लगता या नहीं, यह कहना कठिन था।

मिट्टी का कण अब भी ज्यों-का-त्यों उसी चोटी पर पड़ा था। दक्षिण में बंगाल की खाड़ी से आगे जाकर हिन्द-महासागर और दूसरी तरफ़ प्रशान्त महासागर काफ़ी गहरे पानी से भरे-पूरे ही थे। प्रशान्त महासागर की गहराई की थाह भी पूरी न थी, किन्तु इधर हिमालय के भार से महासागर में भरे पानी से संतुलन हो जाता था और वह चोटी पर पड़ा हुआ मिट्टी का कण दोनों का संतुलन करने में सहायक था।

प्रोफेसर गांगुली एक दिन सुबह बैठे अपनी नई किताबें उलट रहे थे। मकान-मालिक का लड़का आया और गांगुली साहब के पड़े हुए अखबारों में चित्र देखने लगा। बीच-बीच में अख़बार फाड़कर कुछ चित्र भी निकाल लिये। प्रोफेसर पुस्तकों में उसी तरह संलग्न रहे। उनके चेहरे पर से कहना कठिन था कि क्रोध आया या नहीं; किन्तु दोपहर को उन्होंने मकान-मालिक को उलाहना ज़रूर लिख भेजा।

प्रोफ़ेसर का नियम एक तरह से बंधा हुआ-सा था। रोज़ सुबह अख़बार और पुस्तकें पढ़ना, दिन में कालेज और शाम को पार्क की सैर।

शनिवार को प्रोफेसर कालेज से जल्द लौटे। भट्टाचार्यजी कहीं अटक गये थे और सुनीता नीचे अकेली थी। गांगुली को देखकर वह भी ऊपर चली आई। प्रोफेसर एक प्याले में चाय डाल रहे थे। बिना इधर-उधर दृष्टि घुमाये काम में संलग्न रहे।

"क्या कहना ! ज़रा तो तहज़ीब दिखाइए।" सुनीता ने कहा।

सकपकाकर वह बोले, "शाम को मुझे..."

"हां-हां, खूब मालूम है ! टहलना है, मेहनत ज़रूरी है। लेकिन मैं अकेली और भूखी जो हूं। लीजिए, मैं ही कुछ ले आती हूं। आपको भी कुछ खाना मिल

जायेगा।"

"कहां क्या रखा है, यह आपको मालूम नहीं। मैं ही लाये देता हूं।" प्रोफ़ेसर भण्डार से कुछ कलेवा ले आये और एक खाली प्याला। चाय बनाकर देते हुए बोले, "अच्छा पीकर चलें, फिर मुझे भी जाना है।"

"मैं तो समझी थी कि प्रोफ़ेसर भीड़ से बिदकते नहीं, किन्तु मामला कुछ दूसरा ही है।"

"लाचार हूं, मुझे जाना है।" कहकर प्रोफ़ेसर घूमने निकल गये।

गांगुली साहब की मुद्रा अब भी गम्भीर थी। लोगों ने बचपन से आजतक न तो उन्हें हँसते देखा और न रोते या घबराते। हां, गांगुली महोदय महीने में दो-तीन बार सिनेमा देखने अवश्य चले जाते और ऐसी ही रीत निबाहने आज भी गये थे।

आकाश में तूफ़ान के आसार बने थे। ऐसे छोटे तूफ़ान इस ऋतु में आते ही रहते हैं और गांगुली महोदय छाता लेकर उसके लिए तैयार थे।

सिनेमा से शो देखकर कुछ ही चले होंगे कि पीछे से दौड़ती हुई सुनीता भी आ लगी। वह भी उसी सिनेमा में गई थी।

"कहानी मजे की थी।" वह बोली।

"हूं।" कहकर वह चुप हो गये।

इधर पानी की बूंदें गिरने लगीं। सुनीता बिना छाता थी।

"मुझे छाता नहीं चाहिए।" प्रोफ़ेसर ने छाता बढ़ाकर कहा।

"नहीं, हम दोनों ही छाते से बचाव कर लेंगे।" कहकर सुनीता छाते के नीचे आ गई।

तूफ़ान का ज़ोर बढ़ा और बौछारें भी ज़ोर की आने लगीं। सुनीता और सट कर प्रोफ़ेसर पर एक तरह से गिर-सी पड़ी। उसके बाल प्रोफ़ेसर के ओंठों से जा लगे। गांगुली महोदय ने दबाकर मुंह ज़ोर से बन्द कर लिया।

घर नज़दीक ही था। घर पहुंचते-पहुंचते दोनों भीग गये। सुनीता की साड़ी और ब्लाउज़ भीगकर शरीर पर चिपक गये। पोर्च की बत्ती के नीचे सुनीता की रूप-रेखा और भी निखर उठी। गांगुली महोदय ने रूमाल से मुंह पोंछा और ऊपर सीढ़ी पर चल दिये। उनके चेहरे से यह समझना कठिन था कि उनके मन पर इस रूप-रेखा का कोई असर पड़ा या नहीं।

शरद ऋतु चली गई थी। दूसरे दिन कड़ाके की धूप ने बर्फ़ को पिघला दिया और उस कण के पांव भी उखड़ गये। कण बहकर नीचे की ओर चल पड़ा। बहकर नदी में और फिर बंगाल की खाड़ी में जा पहुंचा। खाड़ी में झालों से टकराकर वह कण हिन्द-महासागर तक पहुंच गया और संतुलन बिगड़ गया। बड़े ज़ोर की घरघराहट हुई और पृथ्वी कांप उठी।

पहली बार आज लोगों ने प्रोफेसर के चेहरे पर घबराहट देखी। गांगुली अपने कमरे से निकलकर दौड़े और तेज़ी से सीढ़ियां उत्तर नीचे जा पहुंचे। मकान-मालिक भी मय अपनी लड़की और लड़के के बाहर निकल गया। लड़के को लाड़ में बाप मिन्टू कहकर पुकारता था। वह दौड़कर प्रोफेसर की गोद में जा चढ़ा। एक बार तो गांगुली ज़रा अकबकाये, फिर मिन्टू की पीठ सहलाने लगे। मिन्टू फूट-फूटकर रोने लगा।

कहते हैं, प्रोफेसर गांगुली अब एकदम बदल गये। लोग सुनकर चकित हो गये कि उन्होंने सुनीता से शादी कर ली। कभी-कभी चेहरे पर घबराहट भी लोग देखते हैं। लड़के अब शोर-गुल भी करते हैं और वह क्लास को अक्सर डांटते भी हैं। और हां, अब वह हँसने भी लगे।

यह सब कैसे हुआ, इसकी विशेष जानकारी तो नहीं है, किन्तु पड़ोसी कहते हैं कि भूकम्प के दूसरे दिन सुनीता मकान के सामने के छोटे से मैदान में बैठी थी। गांगुली रोज़ की तरह ऊपर से उतरे तो बोली, "मैं तो समझी थी कि आप उतरेंगे ही नहीं।"

"मैं तो जा ही रहा...मैं पूछने वाला था...मैं तो यह कहने की कोशिश में हूं कि मैं शिक्षक भी हूं और यह परिश्रम का काम है।"

पड़ोसियों ने देखा कि उसके बाद एक-दूसरे की बांह-में-बांह डाले दोनों ऊपर चले गये। □

दरवाजा

□

हम सब लोग परिस्थिति के कैदी हैं, और हरेक क्रिया की प्रतिक्रिया सबके मन में अलग-अलग होती है। मन के आवेग और विचारों का एक अन्दाज़ा तो किया जा सकता है, पर कौन से काम को कौन कैसे सुलझाता है, यह कहना कठिन है।

किशोर रात का जगा था, इसलिए काफ़ी दिन चढ़े तक सोता रहा। उस मित्र-भोज के बाद ताश की पार्टी जो जमी, उसने सोचा, शायद रात-भर ही चलेगी। पर वह औरों की अपेक्षा जल्दी ही छुट्टी पा गया। पता नहीं, वह लोगों में हिल-मिल क्यों नहीं पाता। लोग उसे घमण्डी कहते हैं। यदि वह ज्यादा मित्रता दिखाता तो उसके सौजन्य से चिढ़ जाते और कुछ नाराज़गी दिखाता तो कहते कि किशोर उनकी दिल्लगी उड़ा रहा है।

तरुण, छोटी बहन नीरजा और उसकी सहेली शीला के साथ दिन को चेरा जाने का कार्यक्रम उसने बनाया था। प्रायः आधा दिन ढल चुका था, और वह नीली पतलून, मटमैली कमीज़ पहने कुतर-कुतरकर जल्दी-जल्दी टोस्ट खा रहा था। उसकी नज़र बार-बार अपने कपड़ों पर अपने आप आकर अटक जाती। पता नहीं, नीली पतलून पर वह मटमैली कमीज़ कैसी लगी। बरामदे की तरफ़ दरवाज़े से तेज़ सूरज की रोशनी चारों ओर ढली हुई थी।

तरुण उसे लेने अब आता ही होगा। कहीं किशोर की वेश-भूषा देखकर वह हँसने तो न लगेगा। उसने दूसरे टोस्ट पर ज्योंही मक्खन लगाना शुरू किया कि बंगले के फाटक पर हार्न बज उठा।

जल्दी से टोस्ट मुंह में ठूंस चाय का घूंट पिया, और वह दरवाज़े की तरफ़ लपका। हां, घूंट गटकने जितने सेकण्ड उसे और लगे।

पर दरवाज़ा तो जाम ही हो गया, जैसे ताला बन्द हो। किशोर को याद ही न था कि उसने चाबी भी घुमाई हो। दरवाज़े का हैण्डिल फिर घुमाने की कोशिश की और घूर कर देखने लगा। रात को लौटा, तब उसे ज़ोर की नींद आ रही थी। नौकर तो उसका नीरजा के साथ चला गया था और रसोइया उसकी मां के

साथ। दरवान दूर फाटक पर था। उसकी चिल्लाहट सुनने वाला कोई भी न रह गया था। छुट्टियों में वह शिलांग घूमने आया था। पर यह छुट्टियां अब उसे भारी मालूम पड़ रही थीं।

क्या यह सम्भव था कि गहरी नींद के झोंके में उसने कुछ ज़्यादा होशियारी की हो और बिना सोचे ताला बन्द कर लिया हो ? पर उसका अवचेतन मन इसे मानने को तैयार न था। उधर चेतन मन कह रहा था कि यह कोई छलना है। उसने हैण्डिल दोनों हाथों से पकड़ कर फिर ज़ोर से घुमाया, पर वह टस-से-मस न हुआ।

वह थककर आतुरता से प्रकोपित हो पागल की तरह ज़ोर से हँस उठा। किशोर के मित्र तो शायद विश्वास कर भी लेंगे और उसे कोई दोष न देंगे। पर नीरजा ? जब कभी वह किसी बात को पूर्ण सत्य बताकर उस पर ज़ोर देता तो नीरजा उसे टेढ़ी नजर से देखने लगती। यदि उसने शिकायत की तो तुनक कर मुंह फेर लेती। नीरजा की दलीलें तर्कपूर्ण हों या तर्कशून्य, वह किशोर की ज़बान बन्द कर देती।

समझ न सका कि कितनी देर वह इस चक्कर में पड़ा रहा, पर उसी समय घर के सामने तरुण का हार्न बज उठा। किशोर ने दरवाज़ा खटखटाया और ज़ोर से हिलाया। तरुण ने फिर हार्न बजाकर ज़ोर से पुकारा, "क्यों बाबू. अबतक सोये ही हैं क्या ?"

"चिल्लाओ मत, आ जो रहा हूं।" किशोर ने अन्दर से जवाब दिया। वह अब भी न समझ सका कि दरवाज़ा क्यों नहीं खुल रहा है।

"समय हो गया।" तरुण फिर चिल्लाया।

किशोर ने हैण्डिल उल्टा-सीधा फिर घुमाया और दरवाज़े पर धक्का दिया। बार-बार उसके दिमाग़ में यही आता था कि नीरजा से वह क्या कहेगा।

"जब तैयार हो तो बात क्या है ? बाहर निकलो।" तरुण ने पुकारा।

"मुझे खूब सुनाई देता है, नाहक शोर न मचाओ।" और झल्लाई-सी आवाज़ में चिल्लाया, "कम्बख्त दरवाज़ा..."

"क्या कहा ?" और तरुण कंकड़ों पर जूते चरचराता दरवाज़े पर आ पहुंचा।

किशोर ने अपने हाथों की ओर ताका। हैण्डिल घुमाते-घुमाते वे दुखने लगे थे। एक बार फिर उसने हिम्मत से अपना रूमाल लपेट कर हैण्डिल पकड़ा और पूरा ज़ोर लगाया, पर बेकार।

ठीक इसी समय तरुण ने दरवाज़ा खटखटाया।

"क्यों नाहक ठप-ठप कर रहे हो ? मैं तुमसे तीन इंच पर ही तो हूं।" और उसने भी दरवाज़े पर हाथ से 'ठप' कर दिया।

"जानते हो, दिन कितना चढ़ आया है ?" तरुण बोला।

"वावा, जानता हूं, यह कम्वख्त दरवाज़ा जो नहीं खुलता।" और उसने तान कर ठप से एक घूंसा दरवाज़े पर मारा।

"क्या करना चाहते हो, मैं समझा नहीं।" तरुण ने पूछा।

"अरे भाई, दरवाज़ा—यह दरवाज़ा नहीं खुल रहा। हैंण्डिल नहीं हिलता।"

"वाहर चावी तो नहीं है ?"

"मैं कहां कहता हूं कि वाहर चावी है—चावी तो कव की खो चुकी। कम्वख्त रामू, मेरे नौकर को भी जाना था नीरजा के साथ !" उसे शायद जानकर वन्द करने की यह सवने मिल कर साजिश की है। उसे याद हो आया, कालेज से पास करके जव उसने अपनी फैक्टरी का काम देखना शुरू किया तो कितने महीनों तक उसे सवकुछ जैसे निराशा से आच्छन्न हो दीखता था।

तरुण ने वाहर से हैंण्डिल घुमाने की कोशिश की। "ना, यह तो नहीं घूमता, स्प्रिंग जाम हो गया दीखता है।"

"देखूं, ज़रा घुमाओ, मैं भी साथ-साथ भीतर से ज़ोर लगाता हूं।"

"लो, 'रामा पुरुषोत्तम माधो रामा', हूं-हूं,नहीं हिलता।"

"किसी भी तरह निकलो भाई, नहीं तो नीरजाजी और शीला चल देंगी। और फिर चेरा का गेट भी खुला नहीं मिलेगा।"

"मैं करूं क्या ? हवा वन जाऊं ?" और उसने दरवाज़े पर कसकर तीन लात जमाईं, जैसे पीटने से दरवाज़ा खुल ही जायगा ! वार-वार उसने सोचा कि चुनौती मान कर पूरा यत्न किया जाय, तो रास्ता निकल ही आता है। पर चुनौती के नाम से ही वह घवरा जाता।

"पर क्या कमरे में एक ही दरवाज़ा है ? उधर वरामदे में भी तो दरवाज़ा खुलता है।" तरुण ने पूछा।

"और क्या-क्या है ?" ज़रा झिड़क कर किशोर ने जवाव दिया। "अरे मियां, ज़मीन से वीस फुट ऊपर वरामदे से क्या कूद पड़ूं ?" किशोर ने एक वार फिर हैण्डिल ज़ोर लगा कर घुमाया, और साथ ही दरवाज़े पर ज़ोर की लात जमाई। पर हैण्डिल ज़रा भी न हिला।

"हां, समझा तो, और क्या करोगे ?"

किशोर को वड़ी घुटन मालूम दे रही थी। मानो वहां कमरे में हवा विल्कुल न हो। साथ ही नीरजा का भय खाये जा रहा था। यह वात नहीं कि वह वहस करने में किसी से कम हो, पर नीरजा जव वोलना शुरू करती तो सवका मुंह वन्द कर देती। जव किशोर किसी काम में अधिक व्यस्त हो तो नीरजा कहती, "क्यों न ज़िन्दगी पर खूव हँसो और इसके खण्ड-खण्ड खुशी में वीतने दो। यह तो एक जुआ है। जुआ खेल कर भी तुम उतने ही सफल कहलाओगे, जितने कि धीरे-

धीरे हिसाबी ढंग से चींटी की चाल चल कर। जीवन शीशे की वस्तु नहीं कि इसे बचा-बचा कर रखो। फेंको, दांव लगाओ।" नीरजा की उक्तियां ही निराली थीं। इसका अर्थ यह भी नहीं कि उसमें छिछोरापन हो। उसे तत्वज्ञ बनने की ज़रूरत ही क्या थी ! वह तो विश्व के तार में सीधी ही बंधी है। उसके अवरुद्ध यौवन से जीवन फूट पड़ता है। किशोर सोच गया।

तरुण ने बाहर से एक बार फिर दरवाज़ा खटखटाया।

"तुम जाओ, कम-से-कम तुम तो शामिल हो जाओ, मैं यहां अकेला बैठा तपस्या करूंगा।" उसे अब घेरा जाने का यह कार्यक्रम बहुत अखरने लगा। कालेज के समय तो था ही, किन्तु अब भी उसे कहानी पढ़ने का बड़ा शौक है। कभी-कभी किशोर अपना भी कहानी के नायक के साथ एकीकरण कर उसी की जगह स्वतंत्र विचरण करता और सबकुछ भूल कर सुख के हिंडोलों में झूलता।

"पर आख़िर निकालोगे कैसे ?"

"हां, यह करो न। जब तुम मुझे निकालने का जिम्मा ही लेते हो तो क्यों न झट से किसी चाबी वाले को पकड़ लाओ ?" उसने फिर हिम्मत बटोर कर कहा।

"पर छुट्टी के दिन, और यहां इस पहाड़ पर चाबी वाले को कहां खोजता फिरूं ?"

"ज़रा जाओ तो, कहीं-न-कहीं फेरी करता मिल जायगा।" किशोर चिल्लाया।

"अरे भाई, मैं भी तो तुमसे तीन ही इंच दूरी पर हूं—क्यों गला फाड़ कर चिल्लाते हो ?"

इसी तरह की विचित्रताओं में भी जो आवेग को रोक रखता है, उसी का चरित्र बनता है, किशोर सोचने लगा। पर वह सदा भयभीत-सा क्यों रहता है ? पर दूसरे ही क्षण किशोर चिल्ला उठा, "तुम समझते हो कि मैं कम-अक्ल हूं।"

"कौन तुम्हें बुद्धू कहता है, पर उत्तेजित होकर दरवाज़ा कैसे खोलोगे ?"

"दिन भर उपदेश देकर ही शायद दरवाज़ा खुल जाय।" किशोर ने कहा। न मालूम क्यों लोग अपने आप को ऊंचा चढ़ाने के लिए दूसरे को गिराने की तरकीब गढ़ते रहते हैं ? वह सोचने लगा।

"पर मैं लौहार भी नहीं कि चाबी गढ़ दूं !"

"वाह, यह अच्छी याद दिलाई, वह साइकिल-मरम्मत की दुकान है न यहां पहाड़ी से उतरते ही।"

"जनाब, आज रविवार जो है, कितनी बार बताऊं। पर तुमने इतने ज़ोर से दरवाज़ा बन्द क्यों किया ?"

"यही तो मुसीवत है, विल्कुल याद नहीं कि मैंने वन्द किया हो।" किशोर यह कहकर सोचने लगा। उसने तो रात को दरवाज़ा खुला ही छोड़ा था। हां, सुवह-सुवह रामू भी आया था। अरे, खूब रही, नीरजा चाय रखने जो आई थी। "हां, खूब याद आई, गुसलखाने के दरवाज़े पर थपथपा कर चिल्ला कर कह रही थी कि देर न करना। वस, उसी ने वन्द किया, ज़रूर।" यह सोचते ही किशोर जैसे हवा पर उड़ने लगा। यह देरी नीरजा के कारण ही हुई। पर जव नीरजा की तीखी नज़र उसके मानो भीतर कुछ भांपने की कोशिश करेगी, तो क्या वह उसे दोषी ठहरा सकेगा ?

"कितने वजे ?" किशोर फिर चिल्लाया।

"साढ़े वारह, पर मैं दूर थोड़े ही हूं, चिल्लाते क्यों हो ?"

"तो भैया, तुम तो चल दो, मैं वैठा हूं—क्या करूं ?" कितनी वार किशोर अनुतप्त हुआ है कि उसे कोई आराम से नहीं पड़ा रहने देता। कितनी वार उसका मन ललचाया है कि वह एक हफ्ते तक किसी से भी न मिले, और सुवह सोकर, दिन खोकर और शाम सपनों में विताये।

"अच्छा, सुनो, खिड़की से निकल सकते हो ?" तरुण ने सुझाव दिया।

"यह भी तो मुसीवत है। कम्वख्त खिड़की भी तो कव से चिपक कर जाम पड़ी है।"

"अच्छा, तो कोई चाकू हो तो दो, कोशिश करूं, शायद ताले का स्प्रिंग खराव हो गया है।"

"ओ माई गाड ! हां, खूव ! ठीक तो है, एक है तो भूठा-सा विना धार का चाकू।" वह चिल्ला कर वोला, और दरवाज़े पर आकर फिर थपथपी देने लगा। "लेकिन तुम्हें दूं कैसे ?"

"अरे, नीचे ज़रा फांक है, सरका दो उसी से।"

"न, यह तो नहीं जा सकता। इसका बैंटा फँस जाता है।"

"कैसे खोजते फिरे थे हम लोग ऐसी ही कोई चीज़ छुट्टियों में शिमला में। तुम्हारे पायजामे में नाड़ा ही नहीं जाता था।" तरुण याद करने लगा।

"गई वह छुट्टी तो। अव तो चेरा के गेट की याद करो।"

"अच्छा, देखूं तो, पीछे की तरफ़ से कोई उपाय हो सकता है क्या ?"

किशोर दरवाज़े पर एक लात जमा, दौड़कर पीछे वरामदे पर जा खड़ा हुआ। यह वर्षा के वाद का मौसम था। सामने की जमी हुई कंकरीली ज़मीन हरियाली से तन्मय थी। वीच-वीच में फूलों के गुच्छे निकले हुए थे।

"मैं तो अव पागल-सा होता जा रहा हूं। कुछ करना हो सो करो। किधर चले गये ?"

"आ रहा हूं। क्यों ? कुछ उपाय सूझा ?" तरुण ने पूछा।

"भाई, मुझे न तो ताला खोलना आता है" (नीचे देखकर) "अच्छा देखू. नीचे कूद कर।"

"न, जमीन कड़ी है, पैर के साथ-साथ कमर भी टूटेगी।" तरुण ने मना किया।

"टूटे तो टूटने दो।" और किशोर रेलिंग पर चढ़ने की कोशिश करने लगा। तरुण और किशोर कालेज में साथ ही पढ़े थे। तरुण ऊंची कुदाई में हमेशा इनाम पाता था। किशोर खेल-कूद में कच्चा था। वह फिर कूद कर अपना हुनर दिखाना चाहता है, किशोर सोचता गया। उसने कातरता से सामने के पहाड़ देखे, फिर नीचे ज़मीन की तरफ़ देखा। उसे कूदने में काफ़ी जोखम लगी। पर यकायक किशोर ने महसूस किया कि वह ऊपर से कूद गया है, और ऐसी लचक से कूदा कि तरुण देखता ही रह गया। पर तुरन्त उसके स्वप्न का धागा टूट गया।

"अरे, ज़रा तरुण का दिमाग़ दौड़ने दो। अच्छा, दो चद्दरें निकाल कर उनमें गांठ लगाओ।"

"मालूम है तुम्हें, सुन्दर भी एक दिन ऊपर से कूद गया था।" भीतर से चद्दरें लाकर किशोर दोनों में गांठ देने लगा। "इस शहर से तो दूर ही भले ! मनहूस दरवाज़ा भी तो कैसा है ? लो, लेकिन अब चद्दर पकड़ेगा कौन ?"

"एक तरफ़ रेलिंग में बांधो।"

"मुझे क्या सिर भी साथ ही थोड़े तोड़ना है ! यह झूले की तरह हिलती है।"

"कहीं आसपास कोई सीढ़ी नहीं है क्या ?"

"कहो तो रेलिंग उखाड़ कर बना डालूं।"

तरुण ज़रा अन्दाज लगा कर देखने लगा। "अच्छा, मुझे ऊपर खींच सकते हो ?"

"उस बड़े लकड़ी के खोखे को पास ले आओ, शायद उस पर खड़े होकर चद्दर पकड़ सको।"

तरुण ने चद्दर पकड़ने की कोशिश की, पर उछल-उछल कर भी कुछ दूर ही रह गया। "तुम भी बेकार ही वक्त गंवाते रहे, तुम तो जाओ।" किशोर अपने भाग्य को कोसता-सा बोला। उसके मन में यह भी घबराहट होने लगी कि कहीं वह तरुण का बोझ ऊपर न उठा सके, और उसे बीच में ही गिरा दे। उसने बैठे-बैठाये और यह एक आफ़त मोल ले ली।

किशोर इसी पशोपेश में उलझा था कि बरामदे के खम्भे को पकड़ तरुण ऊपर उछला और चादर पकड़ कर उस पर लटक गया।

"लो, अब तुम्हें निकाल कर छोड़ूंगा, खींचो।" तरुण चिल्लाया।

"तुमने बहुत किया, अब छोड़ो मुझे।" किशोर ने ऊपर से जवाब दिया।

"छोड़ो भी इन बातों को, चलो फुर्ती करो।"

"कुछ देर पहले तो मैं आत्महत्या की सोच रहा था।"

किशोर ने सिर पर से उतार कर वेरट फेंक दी और सिर खुजाने लगा। आजकल की शायद यह परिपाटी है कि कहना कुछ और मन में रखना कुछ। किशोर सोचने लगा। "तुम्हें बुरा लग रहा है कि कमरे से निकलने की कोशिश नहीं करता।" वह बोला।

"मैं ज़रा भी..."

"सच, तुम जानते हो कि चेरा के गेट का समय कब का निकल गया?"

"नहीं-नहीं।"

"क्यों बुद्धू बनाते हो मुझे? मैं तुम्हारी जगह होता तो बेहद चिढ़ जाता।"

"अरे, खींचो तो।"

"मैं यह भी जानता कि दरवाज़ा अपने आप जाम हो गया, तब भी तुम पर बिगड़ता।" किशोर बोलता ही गया। "तुम भी ज़रूर यही सोचते हो।"

"मैं कुछ नहीं सोचता, अब अधर लटकाकर तो न रखो।"

उसी उलझन में खोया-सा किशोर चद्दर खींचने लगा। लेकिन कोई दो फुट खींचते ही उसका मन निराशा में डूब गया। नहीं, वह नहीं कर सकेगा। उसमें ताक़त ही नहीं है। नहीं होगा, वह कितनी ही हिम्मत करे। उसका मन होने लगा कि वह खूब फूट कर रो पड़े। पर यह क्या! तरुण ऊपर तक पहुंच और रेलिंग फांद उसकी पीठ थपथपाने लगा।

"वाह भाई, वाह, खींच ही लिया तुमने आख़िरकार!"

किशोर कुछ हतप्रभ और भयातुर-सा खड़ा रह गया। उसने एक कठिन काम पूरा तो कर दिया, पर अब जैसे उसका सत निकल गया हो। उसे सन्देह होने लगा कि क्या उसने ही ऊपर तक तरुण को खींच लिया, या तरुण खुद ही ऊपर तक चढ़ गया। उसने चाकू तरुण को पकड़ा दिया, मानो किसी ने अपने आप उसका हाथ पकड़ कर यह करा दिया हो। तरुण लपक कर अन्दर दरवाज़े पर पहुंच गया। किशोर भी पीछे-पीछे चलने लगा। दरवाज़े को देख तरुण देखता ही रह गया। उसने किशोर के मुंह की तरफ़ देखा, फिर दरवाज़े की तरफ़।

किशोर चकित-सा रह गया। ताले के लैच को बन्द रखने वाली चिटकनी लगी हुई थी। उछल कर उसने चिटकनी खींच दी और अब सन्न होकर खड़ा रह गया। भाग्य के इस अन्याय पर उसके मन से मार्मिक पीड़ा उफना कर छलक पड़ी। □

सोने का दांत

□

कलकत्ता ने बहुत-से जमाने देखे। यह शहर हिंदुस्तान की राजधानी भी किसी समय में था। 'बंगभंग' को लेकर पहला स्वातंत्र्य-आंदोलन यहीं हुआ। 'स्वदेशी-आंदोलन' की नींव यहीं पड़ी। हिंसात्मक आंदोलन का जन्म भी बंगाल से ही शुरू हुआ और वाइसराय लार्ड हार्डिंग पर बम फेंकने वाले रासबिहारी बोस भी बंगाल के ही थे।

जहाँ ये आंदोलन हुए, वहां दूसरी प्रगति भी बंगाल ने ही दिखाई। पहला विश्वविद्यालय कलकत्ता में ही स्थापित हुआ। जब अपना धर्म छोड़-छोड़ कर पढ़े-लिखे लोग ईसाई बन रहे थे, तो उन्हें बचाने के लिए राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन के द्वारा ब्रह्मसमाज की स्थापना यहीं से शुरू हुई। पहला नोबल पुरस्कार भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर को ही मिला। अब तो राजस्थानी और मुगल-शैली की तस्वीरों की कीमत बहुत ज्यादा हो गयी है; किंतु उस जमाने में, जब भारतीय कला को हीन मान कर बड़े-बड़े राजा-रईस केवल विलायती तसवीरें खरीदते थे, ऐसे वक्त गगनेन्द्र ठाकुर और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ओरियंटल-शैली' चलायी।

हां, तो इस बार भी बंगाल बाजी मार ले गया—नक्सलपंथियों का मत यहीं से फैला। इकदालिया रोड पर कन्नूमल की मोदीखाने की दुकान थी। लोग उन्हें अकसर कन्नू दादा कह कर ही पुकारते थे। रहन-सहन में कन्नू दादा सादे थे। गंजी पर लंबा कोट और सिर पर पगड़ी रख कर वे अपने उस बस्ती वाले घर से खाना खाकर साढ़े नौ बजे निकलते और दुकान खोल कर अपनी पगड़ी एक तरफ टांग कर बैठ जाते। उस जमाने में तो दुकान में बिजली का एक लट्टू मात्र था, जब शाम हो जाती तो थोड़ी रोशनी कर देते। कन्नू दादा सुबह जब आते तो गरमी के दिनों में बैठ कर दो बार 'राम-राम' कह कर हाथ से पंखा झल लेते। अब समय के साथ-साथ बिजली के लट्टू के बदले कन्नू दादा ने फ्लोरेसेंट ट्यूब रोशनी के लिए लगा लिया और एक बिजली का पंखा भी। अब गरमी के दिनों में पंखा प्रायः चलता ही रहता है, किंतु इस जमाने ने भी कन्नू दादा की पोशाक में

कोई फेर-फार नहीं कराया। अब भी वे पगड़ी उतार कर पंखे के नीचे बैठ जाते हैं। हाँ, अब साथ में उनका नाती भी आता है। वह कोट के बदले पंजाबी पहनता है।

कन्नूमल कोई ज्यादा बीमार हुए हों, ऐसा कभी नहीं सुना गया। बहुत पहले दो-एक बार मलेरिया बुखार हुआ हो तो हुआ हो ! अवश्य सामने का एक दाँत खराब हो गया था। उसी बस्ती में सरदार अर्जुनसिंह दाँत के डॉक्टर थे। सरदारजी ने दाँत देख कर और कुछ न बना तो पचपन रुपये में दाँत पर सोने की टोपी पहना दी। पचपन रुपये कन्नूमल को बहुत अखरे, लेकिन डॉक्टर के पास जाकर बिना कुछ कराये वापस आना कठिन था। इसके बाद कन्नूमल 'ही-ही-ही' करके हँसते या लंबी डकार लेते तो सामने का सोने का दाँत चमक पड़ता, यहाँ तक कि कभी कोई भूल कर पूछ बैठता, "कन्नूमल कौन-से ?" तो लोग जवाब देते, "सोने के दाँत वाले !" इसके सिवा कोई कुछ नहीं जानता कि कन्नूमल कब और कहाँ से आये और इकदालिया रोड पर ही दुकान क्यों खोली ! एक-आध बुड्ढा बस्ती में रहा भी हो तो उसे भी इतनी पुरानी बात याद न थी।

कन्नू दादा मोदी की दुकान तो चलाते ही, पर साथ-साथ उधार देकर लोगों के पैसे की कमी भी पूरी करते। उस बस्ती में ऐसा कोई न था, चाहे वह पनवाड़ी हो या साहब के घर में काम करने वाला खानसामा, चाहे बढ़ई हो या राज, जिसे जब रुपये की जरूरत पड़ी, उसकी माँग कन्नू दादा पूरी कर देते। कन्नू दादा सूद जरूर कस कर लेते, पर पैसे के तोड़े किसी को बर्बाद न होने देते। इसलिए इकदालिया रोड के आसपास की बस्तियों में कन्नू दादा की बड़ी इज्जत थी। जब वे वसूली पर बस्ती में जाते और कोई मिल जाता, वह हाथ जोड़ कर कन्नू दादा की अगवानी किये बिना आगे न बढ़ता। कन्नू दादा भी घर का हालचाल पूछते जाते—बनर्जीबाबू, आपकी बीवी का बुखार उतरा या नहीं ? क्यों रे धन्ना, सोनिया, तेरी लड़की अच्छी है न ? पूछते-पूछते कन्नूमल बस्ती का पूरा चक्कर लगा देते। खुशी से जो रुपया लौटाता, वह ले लेते, न देने वाले को अपने ऋण की याद दिला कर ही लौट आते। बस्ती की जिंदगी में कन्नूमल इतने घुल-मिल गये थे कि न तो कोई यह सोच सकता था और न किसी के मन में कन्नूमल के पैसे मारने का इरादा ही पैदा होता।

हाँ, तो नक्सल पंथ चला, लोगों के खून भी होने लगे। न तो वधिक ही जानता था कि वध क्यों और किस ध्येय से किये जा रहे थे और न वध्य ही। यदि अंत होने से पहले संज्ञा रही तो सोच भी नहीं सकता था कि उसका खून क्यों किया गया ! बस, एक हवा चली और चली !

उस दिन शहर में आम हड़ताल की घोषणा थी। आम हड़तालें पहले भी हुआ करती थीं, पर किसी पर जोर-जबरदस्ती नहीं होती थी। अब आम हड़ताल के

माने थे तानाशाही हुक्म और बंद न करने वाले को और कुछ नहीं तो माल का नुकसान तो उठाना ही पड़ता। बनर्जीबाबू की औरत यों तो कई दिनों से बीमार थी, पर उस दिन अचानक दौरा उठा और बनर्जी और उनके बच्चों को रोते छोड़ चल बसी। बनर्जी सौ रुपये उधार लेने के लिए कन्नूमल के सामने गिड़गिड़ाये। कन्नूमल यों तो दुकान खोलने से डरते थे, पर बनर्जी की तकलीफ पर दया आ गई। कन्नू दादा ने ताला खोला ही था कि पीछे मुड़ कर देखा, पाँच आदमी खड़े उन्हें एकटक देख रहे हैं। उन पाँचों में दो तो बस्ती वाले ही थे। कन्नूमल ने सहदेव और भट्टाचार्य को जानी हुई नजर से देखा और जरा मुस्करा दिये, पर उनकी आँखों में आज अज्ञातपन-सा था। उन दोनों ने ही (शायद ढोंग दिखा रहे हों) आगे बढ़ कर कहा, "तुम जैसे सूदखोरों के लिए हमारे इस जागृत समाज में स्थान नहीं है।"

कन्नूमल जरा भयभीत-से असंकल्पित हँसते-से बोले, "भैया, मुझे पॉलीटिक्स से क्या मतलब है ! तुम लोग भी तो बनर्जी की तरह भुगत चुके हो। सहदेव की औरत जब बीमार थी, अचानक रात को साँस का दौरा उठा तो डॉक्टर को फीस देने के लिए भी उसके पास पैसे न थे, तब कन्नूमल ने रात को ११ बजने पर भी पच्चीस रुपये दिये थे। भट्टाचार्य की नौकरी छूटे तीन महीने हो गये तो भूखे परिवार की भूख मिटाने को कन्नूमल ने बिना जमानत के पचास रुपये भी उसे उधार दिये थे।"

"क्या मतलब, हम भी भुगत चुके हैं ! तुमने रुपये दिये तो क्या बिना सूद दिये थे ? और आज आम हड़ताल में दुकान खोल रहे हो ?" कहते-कहते सहदेव का मुंह तो सफेद पड़ गया, पर आवाज में कोई फर्क नहीं आया, "तो अब अपने किये की घूस ऐंठना चाहते हो ?"

सहदेव बोलता गया, बीच-बीच में भट्टाचार्य भी एक-एक शब्द जोड़ते चले गये। पर कन्नूमल अब कुछ नहीं समझ रहे थे। उनकी श्रवण-शक्ति में कोई कमी न थी, पर शायद समझने की शक्ति अब खत्म हो चली थी। उन्होंने सिर उठा कर आसमान की तरफ देखा, फिर मुड़ कर एकटक सहदेव को देखने लगे।

बाकी तीन साथियों में से एक चिल्लाया, "खत्म करो इस सूदखोर को !" और दो के हाथ में बगल से छुरे निकल आये। कन्नूमल चिल्लायें, उसके पहले ही खप-खप दोनों छुरे अंतड़ियों में घुस गये और वे वहीं गिर पड़े। पांचों ने उनकी एक लम्बी साँस सुनी और फिर कन्नूमल निश्चल हो गये। जब पाँचों मुड़ने लगे तो सहदेव ने कहा, "जरा ठहरो, यह दाँत का सोना बेकार क्यों जाये !"

बनर्जी ने दूर खड़े-खड़े सब सुना और देखा। उसने एक लंबी सुबकी ली और अपनी झोंपड़ी की तरफ लौट चला। □

वह पुलिन्दा

□

बुध का दिन भी और दिनों की तरह ही उदय हुआ। देखते-देखते वैसाख का सूरज ऊपर उठा और आग उगलने लगा। रवि ने रोज की तरह मोटर का इंजन चलाने की कोशिश की। फिर याद आया कि चावी तो शीशे की मेज पर ही भूल आया, तब वेतहाशा दौड़कर चावी ले वापस आया और इंजन चला कर दफ्तर को फौरन चल दिया।

सविता ने खिड़की से झांक कर देखा। अवतक तो वह रवि के काम में व्यस्त थी। काम पर जाने वाले लोग जा चुके थे, अव सड़क पर इक्की-दुक्की मोटरें थीं। नौकर पांच-छह दिन से वीमार था और रसोइया छुट्टी पर। सारा काम उसने खूवी से किया। काम करने से ही काम की मिकदार समझ में आती है। पर अव कमजोरी महसूस होने लगी। वह सोफे पर बैठ गई। सोचा, क्यों न बाहर जाने से पहले एक प्याला कॉफी पी लूं। चौके में उसने खड़े-खड़े कॉफी बनाई। प्याला भरने लगी, तव याद आया कि चीनी खत्म हो चुकी है। अलमारी में चीनी का डिव्वा खाली था।

उसने वगल के माले का दरवाजा खटखटाया। "उमावहन, जरा एक प्याला चीनी तो भर दे।" उसने दरवाजा खुलते ही कहा। कितनी वार सविता ने इसी तरह चीनी के डिब्वे भर-भर कर उमा को दिये थे। कई बार तो उसने मक्खन की टिकियां भी दी थीं।

"वहन, क्या वताऊं, वस मैं तो मोदी की तरफ जा रही थी। मेरी तो कुंडी आज एकदम खाली हो गई।" उमा ने अफसोस जताते हुए कहा।

"लोग कैसे अहसान-फरामोश होते हैं।" सविता सोचने लगी, "क्या एक प्याला कॉफी के लायक भी चीनी उमा नहीं दे सकती थी? खैर, सुजाता को देखूं।" सुजाता दूसरी मंजिल पर थी। सविता ने नीचे उतर कर दरवाजा खट-खटाया। सुजाता ने अफसोस जाहिर करते-करते कहा, "वहन, वस आज कलुआ को राशन की चीनी लेने भेजने ही वाली थी।" सविता अपने फ्लैट में लौटी तो उसका दिमाग घूम रहा था कि अबकी उमा, सुजाता कुछ मागेंगी तो वह क्या

जवाब देगी ? चौके में जाकर उसने फ्रिज से ठंडा पानी निकाला और ठीक सामने पड़े कागज के उस पुलिन्दे को उसने इसी वक्त देखा। बची-खुची पाव-रोटी की कतरनें, साग-तरकारी तथा फलों के छिलके और सुबह-सुबह सफाई करके इकट्ठी की हुई बुहारन—इन सबका उसने एक कागज में बांध कर पुलिन्दा बना दिया था। बात थी कि रवि पुलिन्दा फेंकता दफ्तर जायगा; पर वह तो वहीं-का-वहीं पड़ा था।

पानी पीकर उसके शरीर में कुछ शक्ति का संचार हुआ। बहादुर होता, तो वह इसी वक्त उसे भेजकर चीनी मंगाती तथा और भी छोटे-मोटे सौदे वह कर लाता। सविता ने तय किया कि वही फुर्ती से सौदा ले आयेगी, फिर दिन भर छुट्टी। रवि तो दोपहर का खाना दफ्तर में खाता था और सविता के लिए महाराज कुछ बना देता। शाम तक पति-पत्नी का काम इसी तरह चलता। शाम को या तो वे बाहर खाते, या महाराज का साथ कभी-कभी सविता भी देती। जब से विदेश से लौट कर सविता की शादी हुई, तब से प्रायः यही रोज का ढर्रा चलता था।

उसने कूड़े का पुलिन्दा उठाया और फ्लैट में ताला लगा कर बाहर चल दी। नीचे उतर कर वह मोदी की दुकान की तरफ घूमी। कोने पर कूड़े का टिन पड़ा था, पर वह छलाछल भरा था। बाद में आने वालों ने चारों तरफ उसके बाहर भी कूड़ा-कचरा फेंक दिया था। म्युनिसपैलिटी कूड़ा न उठाये, तो इसमें नागरिकों का क्या कसूर ? आखिर उन्हें तो घर साफ करना ही पड़ता है। सविता अपना पुलिन्दा वहीं पटरी पर कचरापेटी के बाहर ही फेंकने वाली थी कि मोड़ से नागरिक समिति का एक स्वयंसेवक उधर ही निकल पड़ा। उसके हाथ में डंडे पर लगा पोस्टर था, लिखा था, "अपने शहर को साफ रखना आपके ही हाथ में है।" सविता का हाथ उठा हुआ ज्यों-का-त्यों रुक गया और सड़क पार कर वह दाहिने रास्ते पर घूम गई।

सामने मोदी ज्योतिप्रसाद अपने उसी पुराने तख्ते पर बैठा था। राशन-वालों की अबतक भीड़ छंट चुकी थी और वह अकेला बैठा अपने बोरों को ठीक कर रहा था। सविता सामने खड़ी देखती रही और ज्योतिप्रसाद ने फैले हुए चावलों का आखिरी दाना उठाकर बोरे में डाल दिया। सविता तबतक पूरी झल्ला उठी थी। उसे सन्देह था कि पिछली बार उसने जरूर दो छटांक चीनी कम दी थी, और अब मोदी का इतना मिजाज कि उसे देखता भी नहीं ! उस पुलिन्दे को ऐसे लोगों के सिर पर ही फेंकना चाहिए और उसने वह पुलिन्दा हल्के-से एक तरफ दुकान में रख दिया। ज्योतिप्रसाद ने भी अब नजर उठाई और पूछा, "बीबी जी, लीजिये, आज किशमिश बहुत बढ़िया आई है।"

"मुझे तो खुले बाजार की एक किलो चीनी तोल दो।" सविता ने कहा।

पैसे देकर वह घूमी कि ज्योतिप्रसाद बोला, "बीबीजी, यह पार्सल तो आप यहीं भूल गईं।" और उसने पुलिन्दा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि सविता ने स्वयं लपक कर उसे उठा लिया। "कलमुंहे को अभी देखने की ऐसी क्या जरूरत थी ?" उसने मन-ही-मन सोचा और आगे बढ़ चली। उसे थैले की एक किलो चीनी का भी बोझ महसूस हो रहा था, पर कुछ रस और जाम के डिब्बे भी लेने थे। वह चल कर भवानीपुर स्टोर में पहुंची।

"यह स्ट्रावरी जेम के आठ आने आपने कैसे बढ़ा दिये ?" उसने डिब्बा उठाकर पूछा।

"हमें राशन की चीनी अब कहां मिलती है ! खुले बाजार की चीनी के दाम डबल हो गए हैं।" सविता का मन हुआ कि बुहारन का पुलिन्दा दुकानदार के सिर पर फेंक दे। आएदिन दाम बढ़ाने का बहाना निकालते ही रहते हैं ये लोग। डिब्बा उठा कर थैले में रखते हुए उसने खाली रैक पर उस पुलिन्दे को सरका दिया, और बैग से पैसे निकाले। "यह पुलिन्दा भी आपके थैले में रख दूं ?" और दुकानदार उस पुलिन्दे की तरफ बढ़ा। पर सविता ने उसके पहले ही उछल कर पुलिन्दा उठा लिया और मेज पर पैसे रखकर बाहर निकल गई। "हे भगवान, इस शहर में कूड़ा फेंकना भी कितना कठिन है !" सविता को कुछ बेचैनी-सी महसूस होने लगी।

पटरी पर एक लेटरबाक्स का लाल रंग धूप में चमक रहा था। बस, एक झटके में उसके दिमाग में यह बात दौड़ गई और वह उसी तरफ घूम गई। बगल में साड़ी की दुकान आज खाली थी और उसके मालिक प्रसन्नवदन दरवाजे पर खड़े थे। वह झट हाथ बढ़ाकर बोले, "मिसेज बत्रा, खत मुझे दे दीजिए। मैं डाल देता हूं। आपका सामान कहीं गिर न जाय !"

"कमबख्त को ठीक यहीं पर खड़ा होना था !" सविता झल्लाई हुई सोचने लगी, "शायद मैं भूल गई खत लाना।" कहकर वह आगे बढ़ चली।

चलते-चलते उसे ध्यान आया कि रवि ने उसे एक नई साड़ी उपहार में देने का वादा किया था, फिर उसे सावित्री की लड़की की शादी में भी जाना था। 'यह मौका है बुहारन को इसकी दुकान में छोड़ने का। प्रसन्नवदन हैं भी इसी लायक !" दाम में कभी एक पैसा भी इसने कम किया हो, सविता को याद न था। वह मुड़ पड़ी और दुकान के अन्दर चली गई। साड़ियां तो देखनी ही थीं, पर खास मौका वह ढूंढ़ रही थी कि साड़ियों के बीच उस पुलिन्दे को भी कहीं दबा दे। पाव-रोटी की कतरनें तरकारी के छिलकों से भीगकर बदबू मारने के पहले ही उस पुलिन्दे को छोड़ना है। सविता को सन्देह होने लगा, शायद जरा-जरा गन्ध तो शुरू हो गई है।

थोड़ा हट कर अलमारी में प्रसन्नवदन एक साड़ी निकाल रहा था कि

सविता ने पहले देखी हुई साड़ियों में से एक साड़ी उठाई और उसकी तह में बुहारन के पुलिन्दे को दबा दिया। अब और साड़ी देखे या न देखे, ले या न ले, उसे वहां से बचकर निकलना था। साड़ियां नापसन्द कर सविता ने अपना थैला उठाया। प्रसन्नवदन ने सबसे पहले पुलिन्दे वाली साड़ी ही समेटी। पुलिन्दा नीचे पड़ने ही वाला था कि सविता ने झट हाथ फैलाकर उसे पकड़ लिया। "ओह ! मैं भी कैसी भुलक्कड़ हूं !" वह दुकान से बाहर निकल गई।

घूमते-घूमते सविता अपने फ्लैट से एक मील दूर निकल चुकी थी। सामने डाक्टर बालिगा का नरसिंग होम दीख पड़ा। गत वर्ष सविता को वाइरस से तेज बुखार हो गया था और उसे एक सप्ताह इसी नरसिंग होम में रहना पड़ा था। सुबह से शाम तक वह किसी का चेहरा देखने के लिए तड़फड़ाती रहती। रवि का दफ्तर छोड़ना असम्भव था और वहां की नर्सों को और भी काम रहता था। वह सब याद करके सविता झल्ला उठी। "बीस रुपए रोज लेकर क्या एक-आध घंटे भी नर्स को उसके पास नहीं बैठा सकता था यह डाक्टर ? चलो, अच्छा है, वह खुली खिड़की से उस पुलिन्दे को चुपके से फेंककर चली जायगी। जब डाक्टर को रोगियों के पास बैठने की ही फुर्सत नहीं, सविता को कौन देख पायगा !"

खिड़की के पास पहुंची और थैले को बाएं हाथ में लिया। पुलिन्दे को दाहिने हाथ के पकड़ कर हाथ उठाने ही वाली थी कि खिड़की से डाक्टर बालिगा ने सिर निकाला, "क्यों मिसेज बत्रा, आज कैसे कृपा की ? तबियत तो ठीक है न ?"

"मालूम पड़ता है, निगोड़े को मरीज नहीं मिलते।" सविता मन-ही-मन बड़बड़ाई, फिर डाक्टर से बोली, "योंही डाक्टर, जरा कमजोरी-सी मालूम होती है।" अब तो बिना देखे वह पिंड थोड़े ही छोड़ेगा—सविता सोचने लगी।

"आइए, जरा देखूं, क्या बात है ?" और डाक्टर बालिगा ने बीच के दरवाजे की तरफ इशारा किया।

डाक्टर से सुलट कर १० रुपए फीस देकर जब सविता बाहर निकली तब वह एकदम हतोत्साह हो चुकी थी। क्या इस शहर में कहीं भी कूड़ा फेंकने की जगह नहीं है ? अब तो वह स्वयंसेवक खड़ा भी हो, तो ठीक उसके सामने पटरी पर क्यों न उस पुलिन्दे को वह फेंक दे ? "ओ हो, मिसेज बत्रा, अच्छी तो हैं न ? यहां आज नरसिंग होम में कैसे ?" हठात उधर से आते नरोत्तम ने पूछा। सविता का हाथ उठते-उठते रह गया।

"चीरिओ" करके वह आगे चली, तबतक उसे अपने आप पर बड़े जोर का गुस्सा आ रहा था। वह भी कैसी अहमक है कि एक कूड़े का पुलिन्दा लिये सारे शहर के अन्दर घूम रही है ! आखिर म्युनिसपैलिटी कूड़ा न उठाये तो वह क्या करे ! औरों ने भी तो कचरापेटी के चारों तरफ़ कूड़ा फेंका ही है। नगर समिति के स्वयंसेवक उन्हें रोकने के बजाय म्यूनिसपैलिटी से कूड़ा न उठवाते ? सविता

के मन से बड़े वेग से एक-पर-एक बातें उठ रही थीं, और इसी उधेड़बुन में वह आगे चलना भूल कर पटरी के किनारे खड़ी-खड़ी सड़क को ताक रही थी। उधर से टैक्सी आई और सरदारजी ने सामने लाकर खड़ी कर दी—सविता जैसे टैक्सी की राह देख रही हो। मन में उसके एक हूक-सी उठी, "यहां, यह अब ठीक, इसका इलाज हो जायगा।" और फुदक कर वह टैक्सी में जा बैठी। घर का ठिकाना बता उसने पैर फैलाकर लम्बी सांस ली।

उसे इस बारे में कोई दुविधा नहीं थी। टैक्सी-ड्राइवरों की अभद्रता पर वह चिढ़ी हुई थी। पांच मिनट में टैक्सी उसके घर के सामने जा खड़ी हुई। सविता ने पुलिन्दा अपने पांवों के पास धीरे-से रख दिया और सरदारजी को पैसे देकर थैला लिये उतर पड़ी। सरदारजी ने पैसे संभाले, तबतक वह घर के दरवाजे के अन्दर दाखिल हो चुकी थी। सरदारजी को शायद सहज ऐसा भान हुआ कि सवारी कुछ भूल गई है। उसने पीछे की सीट पर नजर डाली। पैर रखने की जगह पर नजर पड़ते ही वह घबराकर चिल्लाया, "ऐ माई, अपना सामान ना भूल।"

सविता खुशी की सांस लेने ही वाली थी कि उसके पांव वहीं रुक गये। "कहीं सरदारजी उसके देखते-देखते ही वह पुलिन्दा न उठा लें। बदबू मारती हुई चीज़ को देख कर वह क्या समझेगा!" उसने थैला जहां खड़ी थी, वहीं जमीन पर फेंका और भाग पड़ी। सरदारजी पीछे की तरफ घूम कर पुलिन्दा उठायें, उसके पहले ही सविता ने फटाक से दरवाजा खोलकर उसे उठा लिया। इतनी जल्दी वह कहीं कुछ कर सकती है, एक विजय का-सा उल्लास उसके अन्दर भर गया। न तो उसे अब बुहारन को न फेंक सकने का अफसोस था, और न किसी के प्रति विद्रोह, न अपने ऊपर झल्लाहट। पड़े हुए थैले को उसने उठाया और सन्तोष की सांस लेकर लिफ्ट का दरवाजा खोला। □

फूल और कांटा

□

मिगमार उसी दिन स्पिति घाटी से पहुंची थी। ऊंचे उभरे गाल, पैनी छोटी नाक, भरे होंठ और बगुले के पंख जैसी सफेद, स्निग्ध काया। उसके छोटे आकर्षक रूप में नारी का पूर्ण लावण्य झलकता था। फिर भी वह अपने साथवालों को बहुत पीछे छोड़ शिपकी दर्रे से होकर तिब्बत में आ पहुंची।

मैं तो उसके आने की आशा ही छोड़ बैठा था। तभी उसने उस छोटे से घर में प्रवेश किया। ऊंचे कालर वाला उसका फ्राक-कोट बर्फ से भीगा हुआ था, और तेज ठंडी हवा के थपेड़ों ने उसके गालों की लाली को उभार दिया था। उसने कीचड़ में सने अपने जूते उतार फेंके और चाय मांगी। तिब्बतियों की भांति उसमें याक का थोड़ा-सा मक्खन मिलाया और पीने लगी।

१९५९ का वसन्त लगने ही वाला था। हमें इस ओर चीनियों का ध्यान बंटाने के लिए भेजा गया था, जिससे परम पावन दलाई लामा बच कर बेरोक-टोक नेफा पहुंच सकें। चीनी धीरे-धीरे सभी स्थानों पर अधिकार जमाते आ रहे थे, और उनकी सेनाएं बढ़ती चली आ रही थीं। हमें सन्देश मिल चुका था कि परम-पावन ल्हासा से चल दिये हैं और चीनियों के अग्रिम दल उनकी खोज कर रहे हैं।

स्पिति घाटी शिपकी दर्रे के पश्चिम में १० हजार से १५ हजार फुट तक की ऊंचाई पर भारत में स्थित है। मिगमार कुजा के निकट एक नगले से आई थी और प्रस्थान से पूर्व उसने मठ के प्रधान लामा का आशीर्वाद भी प्राप्त कर लिया था। दल में स्पिति और तिब्बतियों को छोड़ दूसरा भारतीय एकमात्र मैं था, शेरू या शेर सिंह। मैं स्पिति घाटी के दक्षिण में किन्नौर का रहने वाला था। आश्चर्यजनक संयोग ही कहिए कि मैं इस दल में आ मिला। जोंगकाया, जेरिंग, पेम्बा और दाचुक—ये सभी तिब्बती थे।

मिगमार से पहले हमारे साथ उत्तरी तिब्बत की एक और लड़की थी, लेकिन वह न तो मिगमार-जैसी सुन्दर थी और न फुर्तीली। एक रात चीनी गश्ती दल से झड़प में वह मारी गई। जेरिंग हमारा नेता था। उसने उसकी मृत्यु पर एक भी आंसू नहीं बहाया। वह सही और गलत में भेद कर सकता था और बिना

झिझके राय प्रकट कर बैठता था। बुदबुदाया, "वह बेवकूफ थी।"

जेरिंग का रूप भयावना था। लम्बा, मोटा, गुलाबी और सफेद रंग। वह पुरानी पीढ़ी का था, चीनी सीमा पर ब्रिटिश खुफिया-विभाग में बीस वर्ष तक रह चुका था।

"वह हिम्मत वाली थी।" गुस्से में जोर से मैंने कहा।

उसने जवाब दिया, "इससे हमारा क्या भला हुआ ? खैर, हमारे लोग उस चीनी पलटन को पागल बनाए हुए हैं। उसे विश्वास है कि हमीं लोग दलाई लामा को कहीं छिपाये हुए हैं।"

रात को नीति निश्चित करने और अगले दिन उस पर अमल करने में सचमुच आनन्द आ जाता था। हमारा ढंग यह था कि दुश्मनों का ध्यान बंटाने के लिए उन्हें हम संशय में डाल देते और फिर उनका साज-सामान नष्ट करने के लिए विस्फोटक छिपाने को चुपचाप उनके खेमे में घुस जाते थे। हालांकि प्रायः नित्य हम यही चाल थोड़ी-बहुत हेर-फेर के साथ दुहराते थे, फिर भी आश्चर्य है कि चीनी सेनापति हमारी इस चाल को नहीं समझ पाए।

मिंगमार को चीनी जनरलों से सूचना प्राप्त करने का काम सौंपा गया था। वह तिब्बती सीमा के निकट पली थी और धाराप्रवाह तिब्बती भाषा बोल सकती थी। स्पिटिवासी यों भी बिल्कुल तिब्बतियों जैसे ही लगते थे। वही कद, ऊंचे उभरे गाल, तिरछी भूरी आंखें। मिंगमार शुरू में कुछ शर्मीली थी। लेकिन जेरिंग ने एक दिन उससे कहा, "उन्हें प्यार चाहिए, घृणा नहीं। उनसे खूब हेलमेल बढ़ाओ और उनका भेद ले लो।"

"वह दूसरी लड़की कैसे मारी गई थी ?" उसने एक दिन जेरिंग से पूछा।

उसने धीरे-से उत्तर दिया, "वह डर गई। एक बार लौटते हुए उसके दल के एक आदमी ने सिगरेट सुलगा ली। रात में इसका जवाब गोली से मिला और सिगरेट पीने वाला धराशायी हो गया। उसे कोई नहीं देख पाया था, लेकिन वह भागी। फिर क्या था, वह भी गोली की शिकार हो गई।"

मिंगमार ने एक गहरी सांस खींची। फिर मुस्कराती हुई बोली, "मैं डरने वाली नहीं।" जेरिंग इतने में एक नई योजना के बारे में बात करने लगा, जो उसके दिमाग में आई थी। इन योजनाओं की बात से उसकी चमकीली नीली आंखें हमेशा उत्सुकता से चमक उठती थीं।

जिस दिन हम खाली रहते, उस दिन अंधेरे में बैठकर मैं उससे गप्पें लगाता और दोनों खूब हँसते। कहीं चीनियों को हमारी जानकारी हो जाय, इस डर से हम रोशनी करने की हिम्मत न करते थे। हमारी चर्चा का विषय होता कि काम खत्म होने के बाद हम क्या करेंगे। विवाह, और फिर वह किन्नौर जायगी। इन अमूल्य घड़ियों में मिंगमार आशा और कल्पना की दुनिया में डूब जाती। यदि जेरिंग भी

वहां होता तो वह नैराश्यपूर्ण आंखों से हमें घूरता। एक बार उसने कहा भी, "इस काम में तुम इन प्यार की बातों को छोड़ो, क्योंकि तव तुम उसे वचाने लगोगे और फिर सबकुछ खत्म हो जायगा।" जेरिंग ने जो कुछ कहा, उसकी सच्चाई मैं अगली कुछ कार्रवाइयों के दौरान समझा। उसे चीनी अफसरों को अपने जाल में फंसाते देखकर मेरा गला सूखने लगता था।

सहसा मुझे शिमला लौटने का आदेश मिला। मैंने उसे रद्द कराने का प्रयत्न किया, किन्तु मुझसे कहा गया कि मैंने जो अनुभव प्राप्त किया है, वह अन्य कार्रवाइयों की योजना बनाने के लिए बहुत मूल्यवान रहेगा। मुझे विश्वास था कि यह आदेश जेरिंग ने ही दिलवाया है, लेकिन कोई विकल्प न था। इसलिए मैं शिपकी दर्रे से होकर चोरी-छिपे निकल आया। वर्फ पिघलने लगी थी। मैं कुंजाम दर्रे से होता हुआ लाहौल आया, वहां से रतांग और फिर सड़क पर आ पहुंचा।

कोई एक महीने बाद दलाई लामा ने नेफा की ओर से भारत में प्रवेश किया। मेरी वदली दिल्ली हो गई। मैंने केन्द्रीय गुप्तचर-विभाग में काम सम्हाल लिया और तिब्वती मित्रों से मेरा सम्पर्क टूट गया। एक बार तो मैंने किसी प्राइवेट व्यापारिक फर्म में काम करने का विचार किया, क्योंकि वहां अफसरों को अच्छा पैसा मिल जाता है। लेकिन तिब्वत, जेरिंग और मिंगमार ने भी मेरा विचार वदल दिया। भले ही तिब्वत की तुलना में यहां के काम में रोमांच नहीं था, लेकिन जो कुछ भी था, उसमें मेरी दिलचस्पी थी।

एक दिन मैं कनाट सर्कस से होकर जा रहा था कि सहसा दो टैक्सियां आकर आपस में भिड़ गईं। पुरानी थीं। उनकी पैट्रोल की नलियां फट गईं। देखते-देखते एक बैंक के सामने जलते कढ़ाव का दृश्य उपस्थित हो गया। चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गई और बैंक का संतरी भी उसमें आ मिला। वहां खड़े-खड़े मैंने देखा कि चेहरे को ढके दो व्यक्ति बैंक से बाहर निकलकर भागे और कुछ जान सकूं, इससे पहले ही पास खड़ी कार में बैठकर वे नौ-दो-ग्यारह हो गये। यह दुर्घटना मात्र नहीं थी, लेकिन मैंने इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया।

कुछ दिन बाद समाचार-पत्रों में एक अन्य दुर्घटना का समाचार छपा। इस बार एक घर की तिजौरी टूट गई थी। रसोई-घर में आग लग जाने से घर के सभी लोग उसे बुझाने में लग गये और इस बीच कोई यह काम कर गया। फिर आगरा का एक समाचार छपा। इन सब चोरियों के पीछे एक खास, असाधारण ढंग था। अगले तीन महीनों में चोरों ने दो जगह और हाथ साफ किये। उनके पीछे जो विशेष तरीका दिखाई देता था, वह मुझे अच्छी तरह से स्मरण था।

मैंने जेरिंग का पता लगाने की कोशिश की। वह जीवित तो था, लेकिन उसकी खोज-खवर नहीं मिल सकी। मैंने चारों ओर आदमी भेजे। मैं ऐसे बिना

किसी खास खबर के योंही शिमला गया। पर स्थानीय पुलिस की सहायता से मुझे वहां जेरिंग का पता लग गया। जाकू पहाड़ी पर वह एक छोटी कुटिया में रहता था। कोई छह-सात बार जाने पर वह घर में मिला। द्वार खोलते ही हक्का-बक्का-सा मुझे घूरने लगा। फिर पलक झपकाई, "हे भगवान, तुम शेरू हो !"

मैंने कहा, "तो आप जेरिंग हैं।" वास्तव में वह बदल गया था। वह मेरी कल्पना से ज्यादा बूढ़ा हो चला था। लेकिन उसकी आंखों में वही दृढ़ चमक थी, जो उसके साथ काम करते समय मैं देखता था। उसने मेरा हाथ दबाया, "स्वागत ! अन्दर आइए।" शाम ढल चुकी थी। कमरा प्रकाशहीन और जीर्ण था। "मैं अकेला ही रहता हूं, परिवार जो नहीं है।" उसने क्षमा मांगते हुए कहा। उसने मुझे चाय भेंट की, जो मैंने स्वीकार कर ली। मैं किसी खास विषय पर चर्चा छेड़ना नहीं चाहता था, सिर्फ उसके बारे में जानकारी चाहता था। पुलिस में उसके विरुद्ध कोई शिकायत नहीं थी और उसके घर में किसी प्रकार की सम्पत्ति का न होना इस बात का प्रमाण था कि वह चोरियों में शामिल नहीं है।

"तिब्बत से आने के बाद क्या कर रहे हो ?"

वह हँसा, "उस सारे रोमांच के बाद बूढ़े आदमी के लिए करने को रह ही क्या जाता है ?"

"और तुम ?" उसने पूछा।

मैंने झूठमूठ कह दिया कि मैं एक व्यापारिक फर्म में काम करता हूं।"

"तुम खूब खुश मालूम होते हो।" उसकी बात में ईर्ष्या की झलक थी।

"और दूसरे लोग ?" मैंने पूछा।

"जोंगकापा तिब्बत में खेम्पा योद्धाओं के साथ ही रह गया, पेम्बा लामा बन गया है और वह दलाई लामा के पास है। दाचुक मारा गया।"

सहसा मैंने पूछा, "और मिगमार का क्या हुआ ?"

उसने धीरे-से मेरी ओर देखा। मेरे शरीर में वेदना की लहर दौड़ गई। उसके उत्तर से मैं आशंकित था। फिर उसे बोलने का अवसर दिये बिना ही मैं बुदबुदाया, "वह भी मारी गई है न ?"

उसने सिर हिलाया, फिर धीमी आवाज में कहा, "तुम जब हमारी तरह काम करते थे, तब भारी जोखम तो था ही।"

मैं सांस के साथ 'हां' ही कह सका। उससे और कुछ पूछना बेकार था। मैं आगे की ओर झुका। मन हुआ कि बाहर निकल कर उसका मुंह तोड़ दूं, किन्तु मिगमार या किसी दूसरे आदमी का नाम लिये बिना ही हम कोई एक घंटे तक बातें करते रहे। तब मैंने घड़ी की ओर नजर डाली और शिष्टाचार के दो-चार शब्द कह कर वहां से मैं विदा हुआ।

अगले दिन सुबह मैं दिल्ली लौट आया। मेरी मेज पर एक और चोरी की रिपोर्ट पड़ी हुई थी। इस बार वह कलकत्ता में हुई थी। उसका ढंग भी वही था। हर बार चोर बड़े-बड़े माल पर हाथ साफ करते थे। राज्य-पुलिस हैरान थी और उसने सहायता मांगी थी। मेरा जाना भी जरूरी था, क्योंकि चोरियां एक ही शहर तक सीमित न रहने के कारण यह मामला अन्तर्राज्यीय वन गया था। अतः मैंने कलकत्ता को प्रस्थान किया।

वही ढंग था, एक दुर्घटना—एकदम स्वाभाविक लगने वाली दुर्घटना। एका-एक विजली गुल हो गई। परिवार के तीन सदस्य ड्राइंग-रूम में बैठे रहे और नौकर सामने पौर्च में। इस बीच किसी ने पीछे से शयन-कक्ष में प्रवेश किया और वहुत सारे गहने लेकर चलता वना। विजली कम्पनी विजली गुल होने पर हैरान थी। उसने वताया कि किसी ने वड़ी सफाई से सर्किट वाक्स नष्ट कर दिया।

सवकुछ हैरानी में डालने वाला था। कोई संकेत नहीं। शाम को मैं गम्भीर चिन्तन में डूबा खाने पर बैठा था। मेरा मुंह दरवाजे की ओर था ओर मैंने उसे प्रवेश करते देखा। एक क्षण को जैसे मैं सपना देख रहा होऊं। मुझे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ। मिगमार मर चुकी थी, लेकिन निस्सन्देह यह वही थी। मैं चोरी की वात भूल गया, अपने काम की वात भूल गया और उसकी ओर दौड़ा। वह मूर्त्ति की तरह खड़ी रही, और फिर चिल्लाई, "नहीं, नहीं, नहीं !"

"हां, मैं शेरू हूं, किंतु तुम जीवित हो !"

इसके वाद हँसी छूटी—सन्तोष की हँसी। यथार्थ के तार झनझना उठे। सवसे अधिक नाटकीय उसकी लम्वी उसांस थी। उसे भी वताया गया था कि मैं मर चुका हूं। सवकुछ भूल कर हम वात करते रहे। बैरा आर्डर के इन्तजार में था, लेकिन हाथ के इशारे से हमने उसे लौटा दिया। अन्ततः मुझे पता लगा कि उसने पेम्वा से विवाह कर लिया है और वह सुखी है। मैं एक क्षण स्तब्ध बैठा रहा, जैसे मेरे गले में कुछ अटक गया हो। मेरी आंखों के सामने विभिन्न चोरियां घूम गईं। कलकत्ता में क्या कर रहा हूं, इस बारे में मेरे मुंह से कुछ निकलने ही वाला था, तभी अन्दर आवाज ने सावधान कर मुझे रोक दिया।

शायद कहीं मिगमार और पेम्वा के ही कारनामे ये न हों ? दूसरे क्षण मैंने सोचा, नहीं मिगमार ऐसा नहीं कर सकती। खैर, उससे विदा लेकर लौटा, लेकिन वार-वार एक वात उठती थी कि ऐसा चोरियों का ढांचा मिगमार और पेम्वा ही सजा सकते हैं। मगर वार-वार खोजने पर भी कोई सुराग नजर नहीं आ रहा था। अन्त में, मैंने पुलिस को आगाह किया कि विजली और गैस के लिए जहां भी खुदाई होती हो, उस पर नजर रखें।

कुछ दिन ऐसे ही निकल गये। एक दिन अलीपुर-चौकी ने खवर दी कि मुख्य सड़क पर विजली वाले एक जगह खोद रहे हैं। विजली-कम्पनी से पूछने

पर पता चला कि इस तरफ उसकी लाइन में कोई खराबी न थी। अब तो लगा कि कुछ आगे बढ़ा जाय। अब पता लगाना था कि किसके यहां धावा बोला गया।

सारी सड़क का चक्कर लगाते-लगाते जब वारिया के घर के पास हम पहुंचे तब देखा कि शाम की पार्टी का सामान भीतर जा रहा था। इस सड़क पर वारिया एक मशहूर धनी हैं, और उनकी स्त्री के पास जवाहरात भी काफी बताया जाता है। अब तो यह पक्का-सा ही था कि वारिया के घर पर ही नया धावा होनेवाला है।

दूसरे दिन सुबह मैं और मुकर्जी वारियाजी से मिलने पहुंचे। पहले हमने उनको किस्सा सुनाया तो वह मजाक करने लगे, पर पन्द्रह मिनट बाद ही उनकी हँसी भय में बदल गई, यहां तक कि भोज बन्द करने को भी वह तैयार हो गये। पर हमने उन्हें रोका, क्योंकि इससे चोरों को पकड़ना ही असम्भव हो जाता। उन्होंने अपने आमंत्रितों के नाम भी दिखाये। उनमें मिंगमार और पेम्बा के नाम देख कर मेरा माथा फिर ठनका।

"इनसे आपकी जान-पहचान कैसे हुई ?" मैंने पूछा।

"पिछले महीने एक कौंसल के यहां पार्टी में मिले थे। दोनों स्त्री-पुरुष हैं बड़े दिलचस्प।"

मुझे इन पर अब पूरा शक हो गया। शायद कहूं कि विश्वास हो गया कि यह इनका ही काम था, तो भी गलत न होगा। सवाल यह था कि मैं बिना इन दोनों के जाने इस भोज में सम्मिलित कैसे हो सकता था ?

वारियाजी ने घूम कर अपना घर दिखाया। उनकी तिजौरी कहां रखी थी, वह भी देखी। उन्होंने मेरी राय मान ली कि उनकी स्त्री उस रात गहने न पहने।

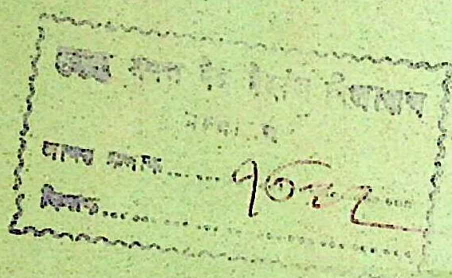
मैं और मुकर्जी भोज में सम्मिलित होने की तरह-तरह की योजना बनाते रहे, पर एक भी न जंची। अन्त में, अपने मित्र सिन्हा के यहां पहुंचा। यह फिल्मों के नामी डाइरेक्टर थे। मैं दाढ़ी बालवाला सिख दरबान बन कर वारियाजी की बरसाती पर खड़ा हो गया। जब मिंगमार और पेम्बा अपनी अम्बेसेडर मोटर से उतरे, तब मेरी छाती धक-धक करने लगी। पर उन्होंने एक साधारण सिख दरबान की तरफ ध्यान नहीं दिया और वे भीतर चले गये। अब बस इन्तजार था कि बत्तियां बन्द हों।

करीब बीस मेहमान आए थे और तश्तरियों में खाना लेकर इधर-उधर कुर्सियों पर बैठ गए थे। हम जरा अधीर हो रहे थे। बिजली एक बार झपकी और बन्द हो गई। हल्ला मचा और वारिया के नौकर मोमबत्ती जला-जला कर ले जाने लगे। मैं दौड़ा पूर्व की ओर। खिड़की में से देखा, पेंसिल जैसी पतली रोशनी की रेखा में तिजौरी के दरवाजे पर कोई कान लगा कर नम्बर घुमा रहा है। उस धीमे-से प्रकाश में वह अच्छी तरह दीख रहा था। बिना आवाज किये मैं अन्दर कूदा, पर शायद उसे कुछ आभास हो गया और वह खिड़की की तरह घूमा।

वह और कुछ करे, उसके पहले ही मैं उस पर झपटा। वह लड़खड़ा कर जमीन पर गिरा। मैंने उस पर बैठ कर उसे दवा लिया और जोर से चिल्लाया। बारियाजी भी तैयार थे, अपने दो नौकरों के साथ टार्च लिये आ पहुंचे। पेम्बा पकड़ा गया।

मिंगमार जेरिंग की लड़की थी। मैं तिब्बत से हठात चला आया, तो उसने वापस स्पिति जाने का हठ किया। उसे वताया गया था कि मैं मारा गया। जव सव लोग वापस लौटे तो कुछ दिन मिंगमार अनमनी-सी रही। पीछे पेम्वा से शादी हो गई। जेरिंग पेम्वा से खुश नहीं था, और वह इस शादी के खिलाफ था। इन चोरियों का मिंगमार को पता भी न था। अच्छे घरों में घुसने के लिए मिंगमार का साथ एक सुलभ साधन था। मिंगमार छूट गई और शिमला चली गई।

●●



'मण्डल' का

कथा-कहानी साहित्य

□□

देवों का दान
खंडित पूजा
प्रकाश की रेखाएं
विनोबा की बोध-कथाएं
एक सत्यवीर की कथा
वेदमंत्रों के प्रकाश में
मानव धर्म की आख्यायिकाएं
बहता पानी निर्मला
जीवन संदेश
त्याग की कहानियां
विद्रोही आत्माएं
कुब्जा सुन्दरी
फूल और कांटा

